होते हैं" इस श्रुति से ज्ञात होता है। इस पर शंका होती है कि—ब्रीहि आदि शरीरधारी अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदि के साथ संश्लेष मात्र होता है, अथवा वे स्वयं ही ब्रीहि आदि शरीर में उपभोग करते हैं। इस संशय पर विचारने पर "जायंते" पद के अनुसार तो, "देवो जायते मनुष्यो जायंते" इत्यादि की तरह, ब्रीहि आदि शरीरों में ही जन्म लेते हैं ऐसा निर्णय होता है।

सिद्धान्त:—इति प्राप्ते उच्यते— अन्याधिष्ठिते— इति। जीवान्तरेणाधिष्ठिते ब्रीह्यादि शरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव। कुतः? पूर्ववदभिलापात्—आकाशादिमेघपर्यन्तवत्केवलतद्भावाभिलापात्। यत्र हि भोक्तृत्वमभिप्रेतम्, तत्र तत्साधन भूतंकर्माभिलप्यते "रमणीयचरणाः" "कपूयचरणाः" इति इह चाकाशादिवन्नाभिलप्यते कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलस्येष्टादेः कर्मणः स्वर्गोपभोगादेव समाप्तत्वात्, अनारब्धस्य "रमणीयचरणाः—" कपूयचरणाः" वक्ष्यमाणत्वात् मध्येकर्मान्तराभावाच्च। अत आकाशादि भाववचनवद् ब्रीह्यादि भावे तज्जन्म वचनमौपचारिकम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—जीव, अन्याधिष्ठित होकर ही लौटता है। ब्रीहि आदि के शरीर में उनका संश्लेष मात्र होता है आकाश से लेकर मेघ तक, उनका केवल तद्भाव मात्र बतलाया गया है, जहाँ उनका केवल भोक्तृत्व ही अभिप्रेत है, वहाँ उनके साधन भूत कर्म भी बतलाये हैं "रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः" आदि। यहाँ आकाश आदि की तरह साधन रूप कर्म का तो उल्लेख है नहीं। वस्तुतः फलोन्मुख स्वर्गोपभोग्य, शुभ कर्मों की भुक्ति तो, स्वर्गोपभोग से ही समाप्त हो जाती है जिनकर्मों के फल आरंभ ही नहीं होते, "रमणीय चरणाः कपूय चरणाः" श्रुति में, उन्हीं की चर्चा की गई है। इसलिए कोई ऐसा कर्म समझ में नहीं आता कि जिसके फलस्वरूप, जीवों का ब्रीहि आदि शरीरी होना माना जाय। आकाश आदि भाव के वचन की तरह, ब्रीहि आदि भाव के वचन को भी, औपचारिक समझना चाहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५॥

नैतदस्ति–यदन्याधिष्ठते व्रीह्यादिशरीरे संश्लेषमात्रम्, भोक्तृत्व हेत्वभावान्न व्रीह्यादि भावेन जन्म-इति भोक्तृत्वहेतुसद्भावात् स्वर्गोपभोग्यफलमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम्-पापमिश्रम्, अग्नीषोमीयादि-हिंसायुक्तत्वात् । हिंसा च "हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषिद्धत्वात् पापमेव । न चात्र पदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावः संभवति भिन्न विषयत्वात् । अग्नीषोमीयहिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकार-कत्वं बोधयति "न हिंस्यात्" इति तु हिंसायाः प्रत्यवाय फलत्वम् ।

व्रीहि आदि में अधिष्ठित जीव का संश्लेष मात्र ही होता है भोक्तृत्व के कारण का अभाव होने से, व्रीहि आदि जन्म नहीं होता। यह कथन ठीक नहीं है। वहाँ पर भोग का कारण रहता है–, स्वर्ग में जिनका फलभोग होता है, वे यज्ञ आदि कर्म ही, अशुद्ध और पापमिश्रित रहते हैं, अग्निसोमीय यज्ञ हिंसायुक्त होते हैं, "प्राणिमात्र की हिंसा मत करो" इत्यादि में हिंसा का निषेध किया है, अतः हिंसा करना पाप ही है। यहाँ पर पदाहवनीयादि की तरह, उत्सर्गापवाद भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषय ही भिन्न है। अग्निषोमीय हिंसा विधि तो, हिंसा की यज्ञोपकारकता की ही बोधक है, " न हिंस्यात्" इत्यादि में तो सामान्यतः हिंसा की पाप जनकता बतलाई गई है।

अथोच्येत-अग्नीसोमीयादिषु विधितः प्रवृत्तेर्नतद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, राग प्राप्तविषयत्वात्तस्येति । नैवम्-इहापि रागप्राप्तेरविशिष्टत्वात् । "स्वर्गकामो यजेत्" इत्येवमादौ हि कामिनः कर्त्तव्यतया चागाद्युपदेशाद्यागादेः स्वर्गादिसाधनत्व-मवगम्य फलरागत एव यागादौ प्रवर्त्तते अग्नीषोमीयादिष्वपि तेषांफलसाधनभूतस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव । प्रवर्त्तते लौकिक्यामपि हिंसायां केनचित् प्रमाणेन हिंसायाः स्व

ankurnagpal108@gmail.com

समीहित साधनत्वमवगम्य रागात् प्रवर्त्तत इति न कश्चन् विशेषः तथा नित्येष्वपिकर्मसु "सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परम परिमितं सुखम्" इत्यादि वचनात् फलसाधनत्वमवगम्य रागादेव प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धि युक्तत्वम्। अत इष्टादीनां पापमिश्रत्वेनाशुद्धियुक्तानां स्वर्गेऽनुभाव्यंफलं स्वर्गेऽनुभूयहिंसाशस्यफलं व्रीह्यादिस्थावरभावेनानुभूयते स्थावरभावं च पापफलं स्मरंति-" शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति। अतो व्रीह्यादिभावेन भोगायानुशयिनो जायंत इति चेत्।

यदि कहें कि अग्नीषोमीय आदि हिंसा कार्य में, जो लोगों की प्रवृत्ति होती हैं वह शास्त्र विधि सम्मत है, अतः "न हिंस्यात्" वाक्य उस वैध प्रवृत्ति का बाधक नहीं हो सकता, इस वाक्य में तो, रागवश या स्वाभाविक हिंसा का ही विरोध किया है। सो ऐसी बात नहीं है- यहाँ भी राग के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है। "स्वर्ग कामोयजेत्" इत्यादि वाक्यों में, सकाम व्यक्तियों के लिए जो कर्त्तव्य रूप से याग का उपदेश दिया गया है, जिससे कि लोग, स्वर्ग प्राप्ति की कामना से ही, याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अग्नि सोमीयआदि में भी, फल प्राप्ति की ही कामना रहती है। लौकिकी हिंसा में भी, किसी न किसी अंश में, अपनी अभीष्ट फलसिद्धि मानकर ही, रागपूर्वक हिंसा प्रवृत्ति है, वैदिक हिंसा में, इससे विशेष कोई बात नहीं समझ में आती। वैसे ही नित्यकर्मों में भी "अपने धर्मानुष्ठान में सभी वर्णों को अपरिमित सुख होता है" इत्यादि से फल साधनता की अवगति होने पर ही, राग वश लोगों की स्वकर्म में प्रवृत्ति होती है। नित्यकर्म भी, सकाम होने से अशुद्ध ही समझे जावेंगे। यज्ञ आदि, अनुष्ठान तो, सकाम होने से, पाप-अशुद्ध हैं ही, उनका फल स्वर्ग में अनुभूत हो जाने पर, अवशिष्ट हिंसा के फल को भोगने के लिए, व्रीहि आदि स्थावर शरीरों की प्राप्ति होती है। जिनमें उस फल का भोग हो जाता है स्थावर भाव, पाप के फल स्वरूप ही होता है, ऐसा स्मृति का प्रमाण भी है-"शारीरिक कर्म के दोषों से मनुष्य स्थावर होता है" इत्यादि इससे सिद्ध होता है कि- जीव,

ankurnagpal108@gmail.com

चन्द्रलोक से भोगानुशायी होकर लौटते समय, ब्रीहि आदि स्थावर योनियो में, उत्पन्न होता हुआ आता है।

तन्न, कुतः? शब्दात्– अग्नीसोमीयादेः संज्ञपनस्य स्वर्गलोक प्राप्ति हेतुतया हिंसात्वाभावः, शब्दात्। पशोर्हि संज्ञपन निमित्तां स्वर्गलोक प्राप्तिवदंतं शब्दमामनंति "हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति" इत्यादिकम्। अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतोव्यापारोऽल्प दुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत् रक्षणमेव। तथा च मंत्रवर्णः–"न वा उ एतस्मिनम्रियसे न रिष्यसि देवान इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यंति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु" इति। चिकित्सकं च तादात्विकाल्पदुखकारिणमपि रक्षकमेव वदंति, पूजयंति च तज्ज्ञाः।

जैसा तर्क उपस्थित किया गया, बात वैसी नहीं है-उक्त मत शास्त्र सम्मत नहीं है। अग्नीसोमीय आदि जो हिंसा की विधि है, वह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है, इसीलिए उसे अहिंसा शब्द से प्रयोग किया गया है। पशु के विधिपूर्वक वध करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख, श्रुति में है "हिरण्य (स्वर्णमय) शरीर धारण करके, ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक प्राप्त करता "इत्यादि। अत्यंत अभ्युदय की साधन रूपा क्रिया, थोड़ी दुःखदायी भी हो तो उसे हिंसा नहीं कहते अपितु वह रक्षण ही है। वैदिकमंत्र में भी जैसे–"हे पशु। इस प्रकार के वध से तुम मरते नहीं, और न हिंसित ही होते हो, तुम सरल रीति से देवमार्ग को प्राप्त हो रहे हो। जहाँ पुण्यवान् ही जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस स्थान में सवितादेव तुम्हें पहुँचावें।"इत्यादि चिकित्सक भी,चिकित्सा के समय रोगी को थोड़ा बहुत दुःख देते ही हैं फिर भी,समझदार लोग उन्हें रक्षक कहकर पूजते हैं।

रेतः सिग्योगोऽथ।३।१।२६॥

इतश्चौपचारिकं व्रीह्यादिजन्मवचनं, व्रीह्यादिभाववचनानंतरं "योह्यन्नमत्ति योरेतः सिंचति तद्भूय एव भवति" इति रेतः

ankurnagpal108@gmail.com

सिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद् व्रीह्यादिभावोऽपीत्यर्थः ।

व्रीहि आदि के जन्म की बात तो औपचारिक ही है, व्रीहि आदि भाव के बोधक वाक्यों के बाद "जो जो अन्न खाते हैं जो रेतसिंचन करते हैं बहुलांश में वही होते हैं" इत्यादि श्रुति में, दिखलाया गया है कि- शुक्र सिंचनभाव से जीव का, रेत सिंचक के साथ जैसा संबंध होता है, व्रीहि आदि भाव में भी वैसा ही संश्लेष होता है ।

योनेः शरीरम् ३।१।२७॥

योनि प्राप्तैः पंचादेवानुशयिनां शरीर प्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोपभोग सद्भावात् । ततः प्रागाकाशादि प्राप्ति प्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः ।

कर्मभोगानुशायी जीवों को, योनि से ही शरीर प्राप्ति होती है, तभी सुखःदुःख उपभोग होते हैं उसके प्रथम आकाश आदि में तो केवल जीव का योग मात्र होता है ।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

ankurnagpal108@gmail.com

द्वितीय पाद

१ संध्याधिकरणः—

संध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं स्थापितं इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते-"न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानो भवंति, अथारथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवंति, अथानंदान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्यो भवंति, अथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति तत्र संशयः, किमयं रथादिसृष्टिर्जीवेनैव क्रियते, आहोस्विदीश्वरेण? इति किं युक्तम्? संध्येसृष्टिर्जीवेनेति । कुतः? संध्यं स्वप्नस्थानमुच्यते "संध्यं तृतीयंस्वप्नस्थानमिति वचनात् । सा तु जीवेनैव क्रियते "सृजते स हि कर्त्ता" इत्यादि हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ।

कर्मानुरूप आवागमन जन्म आदि योग से जाग्रत जीव को, दुःख प्राप्ति बतला दी गई । अब जीव की स्वप्नावस्था का विश्लेषण करते हैं । स्वप्न के विषय में श्रुति में कहा गया है कि-"न वहाँ रथ, न रथ का संसर्ग, न मार्ग होते हैं, अपितु, रथ, अश्व, मार्ग आदि की सृष्टि करता है । न वहाँ आनंद, मोद और प्रमोद ही रहते हैं, अपितु आनंद-मोद-प्रमोद की सृष्टि करता है । वहाँ छोटे जलाशय, पुष्करिणी और नदियाँ भी नहीं होतीं, अपितु वेशांत, पुष्करिणी और नदियों की सृष्टि करता है। वही उसका कर्त्ता है ।" इस पर संशय होता है कि-वह सृष्टि जीव कृत है अथवा ईश्वर कृत? विचार करने पर सन्ध्य कृत सृष्टि जीव कृत ही ज्ञात होती है । संधि स्वप्न स्थिति को ही कहते हैं-"संध्या तीसरा स्वप्नस्थान

ankurnagpal108@gmail.com

है"इत्यादि।' जो रचे सो कर्त्ता" इस वाक्य से स्वप्न को देखने वाला जीव ही, स्वप्न सृष्टि का कर्त्ता प्रतीत होता है।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२॥

किंच—एनं जीवं स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति, पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यंते, नेच्छामात्रम्, पुवत्र हि "सर्वान् कामान् छंदतः प्रार्थयस्व" "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इति पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः। अतोरथादीन् जीवः स्वप्ने सृजति जीवस्य च सत्यसंकल्पत्वं प्रजापति वाक्ये श्रुतम्, अतः उपकरणाद्यभावेऽपि सृष्टिरुपपद्यते।

किसी किसी वेद की शाखा में जीव को स्वप्नदृश्य "कामों" का निर्माता भी कहा गया है-"नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला पुरुष सोता हुआ भी जागता है"। पुत्र आदि ही वहाँ पर काम्य वस्तुओं के रूप में निर्देश किये गये हैं, केवल इच्छा मात्र ही, उसका अभिप्राय नहीं है। उक्त वाक्य के पूर्व के वाक्य में कहा गया है कि—"सभी कामों को इच्छानुसार मांग लो "सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो" इनमें पुत्रादि को ही काम रूप से बतलाया गया है। इससे निश्चित होता है कि-रथ आदि की स्वप्न रचना जीव ही करता है। जीव की सत्यसंकल्पता भी, श्रुति के प्रजापतिवाक्य में कही गई है। इसलिए बिना साधन के भी जीव में सृष्टि रचना की क्षमता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, स्वप्नरथपुषकिरिण्याद्यर्थंजातं मायामात्रं परं पुरुषसृष्टमित्यर्थः। मायाशब्दोहि आश्चर्यवाची "जनकस्य कुलेजातादेवमायेवनिर्मिता" इत्यादिषु तथा दर्शनात्। अत्रापि—"न तत्र रथा, न रथयोगा न पंथानः" सकलेतरपुरुषानु-

ankurnagpal108@gmail.com

भाव्यतया न भवंतीत्यर्थः। "अथरथान् अथयोगान्पथः सृजते" स्वप्रदृगनुभाव्यतया तत्काल मात्रावसानान् सृजत् इत्याश्चर्यरूपत्वमेवाह एवं विधाश्चर्यरूपा सृष्टिः सत्यसंकल्पस्य परमपुरुषस्यैवोपपद्यते, न जीवस्य, तस्य सत्यसंकल्पत्वादि युक्तस्यापि संसारदशायाम् कात्स्र्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वान्न जीवस्य तथाविधाश्चर्यसृष्टिरूपपद्यते।

तु शब्द, पक्ष का निवारक है। स्वप्नदृष्ट रथपुष्करिणी आदि केवल माया मात्र हैं जो कि-परमपुरुष की ही सृष्टि है। मायाशब्द आश्चर्यवाची है जैसा कि-"जनक के कुल में देवमाया ने ही मानों जन्म लिया" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। स्वप्न प्रसंग में भी- 'न रथा' इत्यादि में जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है, वो साधारण पुरुषों के अनुभव में न आने वाली दुर्लभ वस्तुएं है। यही दिखलाया गया है। 'रथ घोड़े मार्ग आदि की सृष्टि करता है" इत्यादि स्वप्न में दृष्टिगत ये वस्तुएं, उस कालमात्र में ही समाप्त हो जाती हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि सत्यसंकल्प परमात्मा द्वारा ही संभव है, जीव द्वारा नहीं। जीव सत्यसंकल्प होते हुए भी; संसारदशा में उसका वह गुण पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं रह पाता इसलिए आश्चर्यमयी स्वप्न सृष्टि उससे स्वयं संभव नहीं है।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति च परमपुरुषमेवनिर्मितार-माह-"य एषु सुप्तेषु जागर्ति" तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते, तस्मिन्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन् "इत्युपक्रमोपसंहारयोः परमपुरुषासाधारण स्वभाव प्रतीतेः। अथ "वेशान्तान पुष्करिण्यः स्रजन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति च तया श्रुत्यैकार्थ्यात् परमपुरुषमेव कर्त्तारमाह।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इत्यादि वाक्य भी, परमपुरुष परमात्मा के लिए ही, कहा गया है तथा "जो यह सोने पर भी जागता है" "वही परं विशुद्ध तत्त्व, परं ब्रह्म अमृत कहलाता है, उसी में संपूर्ण लोक

ankurnagpal108@gmail.com

आश्रित रहते हैं, उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" ऐसे उपक्रमोप संहार वाक्यों से भी; परमपुरुष परमेश्वर के असाधारण स्वभाव की प्रतीति होती है। "छोटे-छोटे कुंड और सरोवर नदी आदि की जो रचना करता है, वही उसका कर्त्ता है" इस श्रुति पूर्व और श्रुति की एकवाक्यता होने से, स्वप्न सृष्टि, परमपुरुष की ही कृति निश्चित होती है।

स्वाभाविमं चेज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिकं, कुतस्तन्नाभिव्यज्यत् इत्यत् आह—

निर्दोषता आदि धर्म यदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं तो स्वयं प्रकाशित क्यों नहीं हो पाते? इस पर कहते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्यबंधविपर्ययौ ।३।२।४॥

तु शब्दः शंकाव्यावृत्यर्थः, पराभिध्यानात्-परमपुरुषसंकल्यात् अस्य जीवस्य स्वाभाविकंरूपं तिरोहितम्। अनादिकर्मपरम्परया कृपापराधस्य ह्यस्य स्वाभाविकं कल्याणरूपं परमपुरुषस्तिरोधापयति, ततः सत्यसंकल्पादेव हि अस्य जीवस्य बंधमोक्षौ श्रुतौ 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति "एषह्येवानंदयति" "भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिषु।

तु शब्द शंका का निवारक है। पराभिध्यान अर्थात् परं पुरुष के संकल्प से इस जीव का स्वाभाविक रूप तिरोहित रहता है। अनादि कर्म परम्परा से अपराध करने वाले इस जीव के स्वाभाविक कल्याणमय रूप को, परमात्मा तिरोहित कर देते हैं, उस परमात्मा के सत्यसंकल्प से ही जीव का बंधन मोक्ष होता रहता है, ऐसा श्रुति का मत है—"जब कभी यह जीव, अदृष्ट, निराकार, अकथ्य, स्वाश्रय, परब्रह्म परमात्मा में निर्भयता पूर्वक, स्थिति प्राप्त करता है, तब वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है। जब तक यह थोड़ा भी परमात्मा से वियुक्त रहता है, तब तक उसे भय होता रहता है" यह परमात्मा ही सबको आनंद प्रदान करते हैं "इन्हीं के भय से पवन चलता है "इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

देहयोगाद्वा सोऽपि ।३।२।५॥

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्ति योगद्वारेण वा, सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद् भवति प्रलयकाले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद् न वस्तुयोगात् । अतोऽनभिव्यक्तस्य रूपत्वात् स्वप्ने जीवोरथादीन् संकल्पमात्रेण स्रष्टुं शक्नोति । "तस्मात्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन् "इति सर्वेषु सुप्तेषु जागरणं सर्वलोकाश्रयत्वमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव संभवंति । अतो जीवानामल्पाल्पकर्मानुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्यानर्थानुत्पादयति ।

जीव का स्वरूप तिरोभाव, देहयोग और सूक्ष्मजडशक्ति द्वारा होता है । सृष्टि के समय, देह में स्थित जड़ वस्तु के संयोग से होता है, और प्रलय काल में नामरूप से अविभक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़ वस्तु के योग से होता है । इसलिए निर्दोषता आदि अनभिव्यक्त स्वरूप वाला जीव, स्वप्न में, संकल्प मात्र से रथ आदि सृष्टि कर ले ऐसा संभव नहीं है । "उसी में संपूर्ण लोक आश्रय पाते है,उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" इत्यादि में जो विशेषतायें बतलाई गई हैं, वह परमपुरुष परमात्मा में ही संभव हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मों के अनुसार, फलों का भोग कराने के लिए उतने ही समय में समाप्त होने वाले, एकमात्र जीव के अनुभव में आने वाले स्वाप्निक पदार्थों, को, परमात्मा सृष्टि करते हैं; ऐसा ही निश्चित होता है ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।६॥

इतश्चस्वा प्रार्थान जीवसंकल्पपूर्वकाः, यतः स्वप्नोऽभ्युदयानभ्युदयोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते"यदाकर्मसुकाम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने"इति"अथस्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतंपश्यति स एनं हंति "इत्यादेश्च । स्वप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते । सूचकत्वं च स्वसंकल्पायत्तस्य

ankurnagpal108@gmail.com

नोपपद्यते, तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्यसूचकमेव सृष्ट्वा पश्येत् अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ।

इसलिए भी स्वाप्न विषय, जीव के संकल्पित नहीं हो सकते-कि श्रुतियों में- अभ्युदय और पतन के सूचक स्वप्नों का उल्लेख है जैसे कि- "जब किसी अनुष्ठान में संलग्नव्यक्ति, स्वप्न में स्त्री का दर्शन करता है तो उससे उसकी समृद्धि समझनी चाहिए" तथा "स्वप्न में यदि, काले दांत वाले काले पुरुष का दर्शन होता है तो वही पुरुष स्वप्न दृष्टा को मारता है" इत्यादि । स्वप्नाध्याय के ज्ञाताओं ने, स्वप्न को शुभाशुभ सूचक कहा है । यह वस्तु अपने संकल्प के अधीन नहीं होती, अशुभता तो किसी को अभीष्ट होती नहीं, इसलिए शुभ सूचक स्वप्न की ही सृष्टि करके स्वयं देखने की बात समझ में नहीं आती । इससे स्वप्न सृष्टि परमात्मा की सिद्ध होती है ।

२ तदभावाधिकरणः-

तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७॥

इदानीं सुषुप्ति स्थानं परीक्ष्यते । इदमाम्नायते-"यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदानाडीषु सुप्तो भवति" इति तथा-"अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति तथा-"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति" इति । एवं नाड्यः पुरीतत् ब्रह्म च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रूयंते, किमेषा विकल्पः समुच्चयोवेत्ति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतेः युगपदनेकस्थानवृत्त्य-संभवाच्च विकल्पः ।

अब सुषुप्ति अवस्था पर विचार करते हैं । ऐसी श्रुति है कि-"ये जीव, जिस, समय इन्द्रिय संबंध से रहित होकर एवं पूर्ण प्रसन्नता प्राप्तकर, किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब इन नाडियों में सोता है" "जब वह सोता है तब उस समय वह किसी के विषय में कुछ नहीं जानता,

ankurnagpal108@gmail.com

बहत्तर हजार हिता नाडियाँ जो कि-हृदय के पुरीतत स्थान से निकलती हैं उन्हीं के द्वारा चलकर वह पुरीतत में जाकर विश्राम करता है "पुरुष जिस समय सोया समझा जाता है, उस समय वह सद्ब्रह्म से संसक्त रहता है "इत्यादि वाक्यों में-नाडियाँ, पुरीतत और ब्रह्म को सुषुप्ति स्थान बतलाया गया है। अब संशय होता है कि-तीनों ही सुषुप्ति स्थल हैं अथवा इसमें से कोई एक है? विचार करने पर ऐसा समझ में आता है कि-एक ही समय में अनेक स्थानों में रहना तो संभव है नहीं, तीनों एक दूसरे से सापेक्ष भी नहीं प्रतीत होते, इसलिए इनमें से किसी एक ही में स्थिति हो सकती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते-तदभावः, इति। तदभाव-स्वप्नाभावः सुषुप्तिः, नाडीषुपुरीतत्यात्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः त्रयाणां स्थानत्व श्रुतेः। न च कार्यभेदेन समुच्चये संभवति, पाक्षिकबाधगर्भविकल्पोन्याय्यः। संभवति च प्रासादखट्वापर्यंकवन्नाड्यादीनां कार्यभेदः। तत्रनाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म तु पर्यंकस्थानीयम्। अतोब्रह्मैव साक्षात् सुषुप्तिस्थानम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं कि—स्वप्न का अभाव ही निद्राहै-सुषुप्ति तीनों स्थानों में होती है, ऐसी श्रुति की विज्ञप्ति है। कार्य में भेद होने से ही समुच्चय नहीं होता, एककार्यता होने से ही समुच्चय संभव है, किसी एक की कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसा करने से पाक्षिक बाध होगा। इन तीनों में महल, खाट, गोद का सा भेद है। नाडी और पुरीतत को महल और खाट समझना चाहिए तथा ब्रह्म की गोद में ही शयन समझना चाहिए। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम्, अतः-अस्मात् ब्रह्मणः एषां जीवानां प्रबोधः श्रूयमाण उपपद्यते—"स त आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि- ब्रह्म को ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान कहा गया है वैसे, ब्रह्म में ही, जीवों के जागरण की बात भी कही गई है। "सत् ब्रह्म के निकट से लौटने पर, जीव नहीं समझ पाता कि मैं सत् के पास से आ रहा हूँ "इत्यादि।

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरणः–

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।३।२।६।।

किं सुषुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति उतान्यः? इति संशये अस्य सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्यब्रह्मणि संपन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राचीनशरीरेन्द्रियादिसंबंधाभावादन्यः ।

क्या सोने वाला ही, जागता है, या कोई और जागता है? इस पर विचारने से, समझ में आता है कि–सुषुप्त व्यक्ति जब संपूर्ण उपाधियों से रहित ब्रह्म से संसक्त रहता है तो वह मुक्त पुरुष से तो किसी प्रकार कम है नहीं, क्योंकि–वह प्राक्तन शरीर इंद्रिय आदि से रहित हो जाता है। इसलिए जागने वाला कोई अन्य ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते–"स एव तु" इति। तुशब्द पक्षं व्यावर्त्तयति, एवोत्तिष्ठति, कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्म-तावत्सुषुप्तेन पूर्वंकृतं पुण्यपापरूप तत्त्वज्ञानात्प्राक्तेन नैव भोक्तव्यम्। अनुस्मृतिरपि–"य एवाहं सुप्तः स एव प्रबुद्धोऽस्मि" इति । शब्दोऽपि सुषुप्तप्रबुद्धः स एवेति दर्शयति–"त इह व्याघ्रो वा, सिंहो वा, वृको वा वराहो वा, कीटो वा, पतंगो वा, दंशो वा, मशको वा यद्यद् भवंति तथा भवंति" इति। विधयश्च मोक्षार्थाः सुषुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकाः स्युः। न चासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त आविर्भूत स्वरूपः "तद् यत्रैतत् सुषुप्तः" इति सुषुप्तं प्रकृत्य" नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहम-स्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति वचनात्। मुक्तस्य च–"परं ज्योतिरुपसंपद्यस्वेन रूपे-

ankurnagpal108@gmail.com

णाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वरा-ड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वज्ञत्वादि श्रूयते। अतः सुषुप्तः संसरन्नेव आयस्तसर्वंकरणो ज्ञानभोगाद्यशक्तो विश्रामस्थानं परमात्मानमुपसंपद्याश्वस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–वही उठता है। तु शब्द उक्त तर्क का निवारक है। कर्म-अनुस्मृति–शब्द और विधि से, उसी की उठने की बात सिद्ध होती है। सुषुप्त व्यक्ति को जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता, तब तक, पुण्यपापरूप पूर्वकृत कर्म, उसे भोगने ही पड़ेंगे, ऐसी कर्मसंबंधी व्यवस्था है। " जो मैं सोया था, वही मैं उठ आया " ऐसी जगने वाले व्यक्ति की पूर्वानुस्मृति होती है। सोना और जागना एक ही व्यक्ति का होता है, ऐसा श्रुति शब्दों से भी ज्ञात होता है, जैसे कि-" जो जो सोने के पूर्व, व्याघ्र-सिंह-वृक-वाराह-कीट-पतंग-मच्छर आदि देखे जाते हैं, जागने बाद उनकी वैसे ही अनुभूति होती है।" इत्यादि सुषुप्ति से ही यदि मुक्ति होजाती तो, मोक्षविधायक शास्त्रों की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। यह जीव सुषुप्ति के समय, उपाधियों से रहित आविर्भूत स्वरूप नहीं रहता। "जीव जिस समय सोता है" ऐसी उसकी सुषुप्ति बतलाकर-" उस समय वह जीव " मैं ऐसा हूँ " ऐसी अनुभूति नहीं कर पाता दृश्य मान पदार्थों को भी नहीं जानता, विनष्ट पदार्थों को भी नहीं जानता, मेरी लिए भोग्य क्या है, उसे ऐसा भान भी नहीं रहता" इत्यादि में उसकी तात्कालिक परिस्थिति का विवेचन किया गया है। मुक्त रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है- " परम ज्योति को प्राप्त कर अपने ज्योतिर्मय रूप में अभिव्यक्तहोता है।" वह मुक्त पुरुष उस अवस्था मेंभक्षण-क्रीडा-और रमण करता हुआ विचरण करता है "वह स्वच्छंद हो जाता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती है।" "तत्त्वदर्शी सब कुछ देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है" इत्यादि में मुक्त पुरुष की ही सर्वज्ञता का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि–सुषुप्त व्यक्ति संसारी होते हुए भी, समस्त इन्द्रियों की चेष्टाओं से रहित, विषयों की उपलब्धि और भोग आदि से असक्त

ankurnagpal108@gmail.com

होकर विश्रामस्थल परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर, आश्वस्त होता है, और पुनः भोग के लिए उठ बैठता है।

मुग्धाधिकरण :—

४ मुग्धेऽर्ध संपत्तिः परिशेषात्।३।२।१०॥

मुग्धमधिकृत्य चिंत्यते, किमियं मूर्च्छा सुषुप्त्यादिष्वन्यतमावस्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुषुप्त्यादीनां अन्यतमावस्थायामेव मूर्च्छा प्रसिद्धि उपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था।

अब मूर्छा पर विचार करते हैं, विचार होता कि यह मूर्छा क्या सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का ही कोई प्रकार है अथवा, कोई स्वतंत्र अवस्था है? इस पर समझ में तो ऐसा आता है कि– सुषुप्ति आदि किसी एक में ही, इसका अन्तर्भाव हो सकता है, इसकी पृथक कल्पना करने का कोई कारण समझ में नहीं आता, यह उन्हीं में कोई एक अवस्था है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्ते उच्यते–"मुग्धेऽर्धसंपत्तिः" इति। मुग्धे पुरुषे यातस्यावस्था सा मरणायार्धसंपत्तिः। कुतः? परिशेषात्न तावत् स्वप्नजागरौ, ज्ञानाभावात्। निमित्तवैरूप्यादाकारवैरूप्याच्चत्रे न सुषुप्तिमरणे निमित्तं हि मूर्छाया अभिघातादिः। परिशेष्यात् मरणायार्धसंपत्ति मूर्छा, मरणं हि, सर्वप्राणदेहसंबंधोपरतिः, सूक्ष्म प्राणदेह संबंधावस्थिति मूर्छा।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–मूर्छा आधी मृत्यु है। मुग्ध पुरुष की जो अवस्था होती है वह मरण की आधी अवस्था होती है। स्वप्न और जागृति में तो उसका अन्तर्भाव कर नहीं सकते, क्योंकि–इसमें ज्ञान का अभाव रहता है। कारण की विभिन्नता और आकृति की विभिन्नता से इसे सुषुप्ति और मरण में भी अंतर्भाव नहीं कर सकते। सांघातिक चोट आदि मूर्च्छा के कारण होते हैं। इसलिये मूर्च्छा को सबसे भिन्न ही मानना चाहिए, वह मरण की अर्द्ध अवस्था है। मरणावस्था में

ankurnagpal108@gmail.com

समस्त प्राणों सहित जीव का संबंध विच्छेद हो जाता है। मूर्छा में, जीव की, प्राणों की सूक्ष्म अवस्था सहित, देहस्थिति रहती है।

५. उभयलिंगाधिकरण :—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि।३।२।११॥

दोष दर्शनाद् वैराग्योदयाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिता:, इदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णा जननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणोनिर्दोषत्व कल्याण गुणात्मकत्व प्रतिपादनायारभते। तत्रजागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रांतिषु स्थानेषु तत्तत्स्थान प्रयुक्ता जीवस्य ये दोषा: ते तदंतर्यामिण: परस्य ब्रह्मणोऽपितत्रतत्रावस्थितस्य संति नेति विचार्यंते। किं युक्तम्? संतीति, कुत:? तत्तादवस्थशरीरेऽवस्थानात्।

अवस्थागत दोषों की अवगति से वैराग्य का उदय होता है, इस लिए सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन किया गया। अब ब्रह्म प्राप्ति की तृष्णा को बढ़ाने के लिए, प्राप्य ब्रह्म, के निर्दोषता, कल्याण-गुणमयता आदि गुणों के प्रतिपादन का प्रयास करते हैं। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—मूर्छा और मृत्यु आदि अवस्थाओं के दोष जीव में संचरित होते हैं, वे सब परमात्मा में भी होते हैं या नहीं? ऐसा संशय होता है। कह सकते हैं कि—होते हैं क्योंकि—उन अवस्थाओं, में शरीर में उसकी भी तो स्थिति रहती है।

ननु "संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" स्थित्यदनाभ्यां च "इत्यादिषु परस्याकर्मवश्यत्वेन दोषाभाव उक्त:, तत्कथमकर्मवश्यस्य परस्यब्रह्मण: तत्तत्स्थानसंबंधाद् दोष उच्यते; इत्थमुच्यते-कर्माण्यपि देहसंबंधमापादयन्त्यपुरुषार्थ जननानि भवंति, इति। "देहयोगाद्वा" इत्यत्रोक्तम् तच्च देहसंबंधस्यापुरुषार्थत्वेन भवति। इतरथा कर्माण्येव दु:खं जनयिष्यंति। किम् देहसंबंधेन, अतोऽकर्मवश्यत्वे सत्यपि नानाविधाऽशुचिदेहसंबंधोऽपुरुषार्थ एव, अतस्तन्नियमनार्थं स्वेच्छया तत्प्रवेशेऽप्यपुरुषार्थसंबंधोऽवर्जनीय:, पूयशोणितादि मज्जनं

ankurnagpal108@gmail.com

हि स्वेच्छाकारितमप्यपुरुषार्थं एव । अतो यद्यपि जगदेककारणं सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणाकरं च ब्रह्म, तथापि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनि तिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन् "यो तेजसितिष्ठन्" इत्यादि वचनात् तत्रतत्रावस्थितस्य तत्तत्संबंधरूपापुरुषार्थाः संति इति ।

प्रश्न होता है कि–"संभोग प्राप्तिरिति" तथा "स्थित्यदनाभ्यां च" इत्यादि सूत्रों से जब, परब्रह्म की कर्मवशता संबद्ध दोषों का अभाव बतला चुके, तब उन अवस्थाओं से संबद्ध परब्रह्म को उन अवस्थाओं के दोषों से संसक्त कैसे कहा जा सकता है? ऐसे कह सकते हैं कि–कर्मों में, देह संबंध को स्थापित करने पर, पुरुषार्थ संपादन की क्षमता नहीं होती ऐसा "देहयोगाद्वा" सूत्र से सिद्ध कर चुके हैं। वे कर्म देहसंबंधित होने से अपुरुषार्थ जनक होते हैं । वे कर्म ही जब दुःख जनक होते हैं, इसलिए देह संबंध से क्या होता है ? जैसे कि-यह विचार समीचीन है, वैसे ही, कर्मवश न होते हुए भी, विविध अपवित्रताओं से संबद्ध शरीर से संबंधी होने से अपुरुषार्थता (दुःख) होना स्वाभाविक ही है। उस शरीर को नियमन करने के लिए, स्वेच्छा से उसमें प्रवेश, करने पर, शारीरिक दुःखों का संश्लेष भी अनिवार्य होजाता है, पूयशोणित आदि में, स्वेच्छा से प्रवेश करना भी तो, अपुरुषार्थं (दुःख) है । यद्यपि ब्रह्म, जगत् के एक मात्र कारण, सर्वज्ञता आदि कल्याणमय गुणों के भंडार हैं फिर भी "पृथ्वी में" "आत्मा में" नेत्रों में "तेज में" इत्यादि में जो उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है, उससे उन–उन वस्तुओं से उनका संबंध निश्चित होता है जो कि अपुरुषार्थ (दुःख) ही है ।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–"न स्थानतोऽपिपरस्य" इति । न पृथिव्यात्मादिस्थानतोऽपि परस्यब्रह्मणः अपुरुषार्थ गंधः संभवति । कुतः "उभयलिंगं सर्वत्र हि"–यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु पर ब्रह्म, उभयलिंगं, उभय लक्षणमभिधीयते । निरस्तनिखिलदोषतत्व कल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेत मित्यर्थः "अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः "समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद् धृतभूतसर्गः" तेजो बलैश्वर्य महावबोध

ankurnagpal108@gmail.com

सुवीर्यशक्त्यादि गुणैकराशिः, परः पराणां सकलान् यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे "समस्त रहितं विष्णवाख्यं परमंपदम्" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः, उभयलक्षण हि ब्रह्मावगतम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि पृथिवी आदि में स्थित रहते हुए भी, परब्रह्म परमात्मा में अपुरुषार्थ की गंध तक नहीं आती । श्रुति और स्मृतियों में, परब्रह्म को उभयलक्षणों वाला बतलाया गया है। अर्थात् उनमें, दोषहीनता और कल्याणगुणाकरता दोनों विशेषतायें हैं । जैसे कि-"वह, निर्दोष, अजर, अमर, शोक-भूख-प्यास रहित, सत्य काम और सत्य संकल्प हैं" वह समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त, अपनी अंश रूप शक्ति से संपूर्ण जगत को धारण किये हुए हैं, तेज-बल-ऐश्वर्य-विशुद्ध ज्ञान उत्कृष्ट वीर्य और शक्ति आदि गुणों के एक मात्र पात्र, श्रेष्ठों के श्रेष्ठ हैं, उनमें बड़े छोटे किसी प्रकार के दोष नहीं हैं "समस्त हीन ताओं से रहित, विष्णु नामक परंदेव हैं ।" इत्यादि श्रुति स्मृतियों में उभयगुणवाले ब्रह्म का उल्लेख है ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२॥

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यापि देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगः, तथान्तर्यामिणः परस्यापि सतोऽपहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यतत्तदेवादि शरीरयोगरूपावस्थाभेदाद-पुरुषार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्, तन्न, प्रत्येकमतद्वचनात्-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु प्रतिपर्यायं "सत आत्माऽन्तर्यामृतः" इत्यन्तर्यामिणोऽमृतत्ववचनेन तत्र तत्र स्वेच्छाया-नियमनंकुर्वतस्तत्तत्संबंधप्रयुक्ता पुरुषार्थप्रतिषेधात् । जीवस्य तु तत्स्वरूपं तिरोहितमिति "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" इत्यत्रोक्तम् ।

यदि कहें कि-प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि-जीव में भी निर्दोषता आदि उभय विध गुण विद्यमान हैं, पर उसमें देव मनुष्य आदि देहयोग की अवस्थाओं के भेद से, अपुरुषार्थ अनिवार्य होता है । वैसे ही अन्तर्यामी परब्रह्म के भी, उभयविध गुण होते हुए भी अपुरुषार्थ होगा

ankurnagpal108@gmail.com

ही। सो बात नहीं है क्योंकि परमात्मा की प्रत्येक में स्थित और अनासक्ति बतलाई गई है। "जो पृथ्वी में स्थित होकर" "जो आत्मा में स्थित होकर" "इत्यादि में निर्दिष्ट पर्यायों में "वही तुम्हारे अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा हैं" ऐसे अमृतत्त्व निर्देश द्वारा, स्वेच्छा से नियमन करने वाले परमेश्वर के, विशेष-विशेष दोषों का प्रतिषेध किया गया है। जीव का उभयविध गुणों वाला स्वरूप तो तिरोहित रहता है "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" सूत्र से यह बतला चुके हैं।

ननु स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुषार्थं संबंधो अवर्जनीय इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्, नहि अचिद्वस्वस्त्वपि स्वभावतोऽपुरुषार्थस्वरूपम्, कर्मवश्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुषसंकल्पादेकमेववस्तु कालभेदेनपुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति, वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु ताद्रूप्ये सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्, न चैवं दृश्यते, तथाचोक्तं "नर्कस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम, यस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः, तदेव प्रीतये भूत्वा पुन दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते, तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च कंचित् सुखात्मकम्" इति। अतोजीवस्य कर्मवश्यत्वात्तत्तद् कर्मानुगुण्येन तत्तद्वस्तु संबंध एवापुरुषार्थः स्यात् परस्य। तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव संबंधस्तत्तद् विचित्रनियमनरूपलीला रसयैव स्यात्।

परमेश्वर स्वेच्छा से कार्य करते हुए भी, वस्तुओं के स्वभाव से आयत्त होने के कारण उनका अपुरुषार्थ अनिवार्य हो जाता है, ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं है। जडवस्तु भी स्वभाव से अपुरुषार्थ स्वरूप नहीं होती अपितु कर्माधीन होने से अपने ही स्वभावानुसार एक ही वस्तु परमेश्वर के संकल्प से काल भेद और पुरुष भेद से सुखकर और दुःखकर होती है। वस्तुओं में यदि सुख और दुःख स्वाभाविक होते तो, सभी वस्तुएं तद्रूप होने से या तो सुखी रहतीं या दुःखी ही रहतीं। ऐसा तो

ankurnagpal108@gmail.com

होता नहीं। जैसा कि—कहा भी गया है कि—"हे द्विजोत्तम! पाप और पुण्य ही, नरक और स्वर्ग नाम से कहे जाते हैं। एक ही वस्तु सुखकर दुःखकर, ईर्ष्याजनक और कोपजनक होती है, इसलिए उसका वास्तविक स्वरूप कैसे जाना जाय? जो वस्तु प्रीतिजनक होकर पुनः दुःखदायी हो जाय और वही कोप और प्रसन्नता की भी कारण हो जाय तो उससे पता चलता है कि-न कोई वस्तु दुःखात्म है न सुखात्मक।" इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है कि-कर्माधीन होने से, कर्मानुसार वस्तुओं का संबंध ही, जीव के लिए अपुरुषार्थ होता है तथा स्वाधीन परब्रह्म के वे ही संबंध, विचित्र नियमन रूप लीला रस के कारण होते हैं।

अपिचैवमेके ।३।२।१३॥

अपि च एके शाखिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्त दीप्तिप्रयोगं च स्वशब्देनाभिधीयते-"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्नं पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति" इति।

श्रुति की एक शाखा में भी, एक ही देह संयोग में, जीव के अपुरुषार्थ और परमेश्वर में उसके अभाव और नियमन रूप ऐश्वर्य से अधीन स्वप्रकाश का विवेचन किया गया है "सहयोगी, समान स्वभाव वाले दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें से एक पके हुए कर्मफल का भोग करता है, दूसरा साक्षी रूप से देखता मात्र है।"

अथ स्यात्-"अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "इति ब्रह्मात्मकं जीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्वं चास्ति ततश्च "ब्राह्मणो यजेत्" इत्यादि विधिनिषेधशास्त्रगोचरत्वेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमिति तत्राह—

(शंका) ऐसा होते हुए भी "मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" ऐसी ब्रह्मात्मक अभिव्यक्ति तदात्मक होने से

ankurnagpal108@gmail.com

6893

देव मनुष्यादि के नामरूपों वाली होती है तथा "ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि निषेधात्मक वाक्यों से परमात्मा की कर्माधीनता अनिवार्य हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।१४।।

देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन रूपेण युक्तमप्यरूपवदेव तत् ब्रह्म-रूपरहिततुल्यमेव, जीववच्छरीरित्वनिबंधनं कर्मवश्यत्वमस्य न विद्यत् इत्यर्थः। कुतः? निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात्। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरातद्ब्रह्म" इति सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्यास्पर्शेन नामरूपयोर्निर्वोढ्त्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति। ननु तच्छरीरकत्वेन तदन्तर्यामित्वे कथमरूपवदिति रूपसंबंधरहित तुल्यत्वमुच्यते? इत्थं यथाजीवस्य तत्तज्जन्य सुखदुःखभाक्त्वेन तत्तद्रूपसंबंधः तथा तदभावात् परस्यारूपवत्त्वम्। विधिनिषेध-शास्त्राण्यपि कर्मवश्यमेवाधिकुर्वन्ति तस्मादरूपतुल्यमेव परंब्रह्म। **ततश्चान्तर्यामिरूपेणावस्थितमपि ब्रह्म निरस्तनिखिलदोषत्व कल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिंगमेव।**

देवादि शरीरों में अनुप्रवेश करते हुए, उन उन रूपों से मुक्त होकर भी, ब्रह्म, निश्चित ही निराकार की तरह ही रहता है, अर्थात् उसमें जीव की सी कर्माधीनता नहीं रहती। क्योंकि उसकी,निर्वाहक रूप से प्रधानता बतलाई गई है। "आकाश ही नामरूप का निर्वाहक है, ये नाम और रूप जिसमें स्थित हैं,वही ब्रह्म है" यह श्रुति उसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म,सब में प्रविष्ट होकर भी नामरूप जन्य किसी भी प्रकार के कार्यों से संस्पृष्ट नहीं होता, और उसकी नाम रूप निर्वाहकता भी साध्य होती है [प्रश्न] देवादिकों के शरीर से, अतंर्यामी रूप से संबद्ध होते हुए भी उसे "अरूपवद्" कैसे कहा गया? (उत्तर) जैसे कि-जीव के कर्मों से होने वाले सुखदुःखों के भोग से, परब्रह्म की अरूपता होती है। विधिनिषेध शास्त्रों में भी, कर्माधीन के लिए ही अधिकार बतलाते हैं, इसलिए वह अरूपतुल्य ही है। इसलिए अंतर्यामी रूप से अवस्थित होते हुए भी,

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्म के-समस्तदोष राहित्य और कल्याण गुणाकरत्व, रूप दोनों लक्षण सिद्ध होते हैं।

ननु च "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं "नेति नेति" इत्यादिभिः प्रतिषिध्यमानत्वे न मिथ्याभूतमित्यवगंतव्यम्, तत्कथं कल्याणगुणाकरत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वरूपोभयलिंगत्वम् ब्रह्मण इति, अत आह–

(प्रश्न) "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों से, निर्विशेष एकमात्र प्रकाशस्वरूप, ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्यत्र–सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता, सर्वात्मकता, आदि का "नेति नेति" इत्यादि से प्रतिषेध किया गया है, जिससे ये सारे गुण मिथ्या से ज्ञात होते हैं, तब कल्याण गुणाकरत्व और निर्दोषत्व आदि दोनों रूपों वाला कैसे कह सकते हैं? इस पर कहते हैं

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३।२।१५।।

यथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यै वैयर्थ्यात् प्रकाशस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तथा सत्यसंकल्पत्वसर्वज्ञत्वजगत्कारणत्व सर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषत्वाद्यभिधायिवाक्यौवैयर्थ्यादुभयलिंगमेव ब्रह्म ।

"ब्रह्म-सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों की सार्थकता के लिए जैसे-ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वीकारी जाती है, वैसे ही सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता सर्वात्मकता, अविद्या आदि दोष राहित्य आदि के बोधक वाक्यों की सार्थकता के लिए, उभय विध लिंग वाला ब्रह्म मानना होगा।

आह च तन्मात्रम् ।३।२।१६।।

किं च "सत्यंज्ञानमनंतं" इत्यादि वाक्यं ब्रह्मणः प्रकाश स्वरूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसंकल्पत्वादिकं वाक्यान्तरा-

ankurnagpal108@gmail.com

वगतम् निषेधति, "नेति नेति" इति च निषेधविषयोऽनन्तरमेव वक्ष्यते ।

"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म की प्रकाशरूपतामात्र का प्रतिपादक है सत्यसंकल्पता आदि के बोधक अन्यवाक्यों के विषय का विरोध नहीं करता, "नेति नेति" निषेध विषयक वाक्य तो दूसरे प्रकरण का है ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।३।२।१७।।

दर्शयति च वेदांतगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदोषत्वं च "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्यकश्चिज्जनिता न चाधिपः, । न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यज्ञानमयं तपः । भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । एको ब्रह्मणः आनन्दः । यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह । आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कुतश्चन । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं । "इत्यादि ।

वेदांत वाक्य परमात्मा की कल्याण गुणाकरता और निर्दोषता का स्पष्टतः उल्लेख करते हैं– "वह ईश्वरों के ईश्वर परम महेश्वर, देवाधिदेव हैं । कारण और इन्द्रियों के भी कारण और अधिपति हैं, उनका कोई कारण और जनक नहीं है । उनमें कार्य और कारण नहीं है और न कोई उनके समान या अधिक है । उनकी पराशक्ति स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक प्रकार की है । वह सर्वज्ञ और सर्वविद है, ज्ञानमय उनका तप है । उनके भय से वायु चलता है तथा सूर्य उदय होता है । वह ब्रह्म ही एक मात्र आनन्द हैं । मन सहित वाणी उनको न पाकर लौट आती है । आनन्द ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता । वह परमात्मा अखण्ड, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है ।" इत्यादि ।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मर्यंते च–"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरं। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद् हि विपरिवर्त्तते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः। सर्वज्ञः सर्वकृत् सर्वशक्तिज्ञानवलर्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नाधिमान् वशी। क्लमतंद्राभयक्रोध कामादिभिरसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तेर्निर्दिष्टोऽक्षरः क्रमः"। इत्यादि, अतः सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिंगत्वात्तत्स्थान प्रयुक्ता दोषा न परंब्रह्म स्पृशन्ति।

स्मृतियाँ भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती हैं–"जो मुझे अज, अनादि और लोकाधिपति जानते हैं मैं एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। मेरी ही अध्यक्षता में प्रकृति इस जडचेतनमय जगत का प्रसव करती है, इसी से जगत का चक्र चलता रहता है। उत्तमपुरुष परमात्मा, जीवात्मा से भिन्न विशेष है। वह ईश्वर त्रिलोकी का अन्तर्यामी रूप से भरण करता है। वह सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता, सर्वशक्ति, ज्ञान और बल ऐश्वर्यवान, ह्रास और वृद्धिरहित, स्वाधीन अजन्मा, वशी क्लेश, आलस्य, भय क्रोध और कामादि रहित निर्दोष, अप्राप्य, अनाश्रित और नित्य है।" इत्यादि, इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता कि ब्रह्म व्यापक होते हुए भी, दोनों प्रकार के गुणो से युक्त होने के कारण, उन उन स्थानीय दोषों से अनस्पृष्ट ही रहता है।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्।३।२।१८॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत् प्रयुक्त दोषभाक्त्वम्, अतएव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत् परमात्मा तत्रतत्राऽवस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेषूपमा क्रियते– "आकाशमेकं हि यथा घटादिषुपृथग् भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्थो

ankurnagpal108@gmail.com

जलाधारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः दृश्यते जल चंद्रवत् ।"इत्यादिषु ।

परब्रह्म, अनेक स्थानों में स्थित होकर भी, उन स्थानों के दोष से अस्पृष्ट रहते हैं, इनको शास्त्रों में, जलदर्पण आदि में प्रतिबिंबित सूर्य आदि की उपमा से समझाया गया है—"एक ही आकाश जैसे घट आदि में भिन्न हो जाता है तथा एक ही सूर्य जैसे विभिन्न जलाशयों में अनेक रूपों में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सर्वान्तर्यामी रूप से हरेक भूतों में, जलाशयों में स्थित चंद्र की तरह है ।" इत्यादि ।

अत्र चोदयति—इस दृष्टांत को दूषित बतलाते हैं—

अंबुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१९॥

तु शब्दश्चोद्यंद्योतयति । अंबुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः । अंबुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते, न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते । अम्ब्वादिषुहि सूर्यादयोभ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यन्ते न परमार्थतः तत्रस्थाः इहतु "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" "योऽप्सुतिष्ठन्" "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते । यतः सूर्यादिरम्बुदर्पणादि-प्रयुक्तदोषाननुषंगस्तत्रतत्र स्थित्यभावादेव । अतो न तथात्वं-दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत पर तर्क प्रस्तुत करना है । अंबुवद् पद में सप्तम्यंत वत् प्रत्यय है । उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि जल दर्पण आदि में जैसे, सूर्य मुख आदि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, पृथ्वी आदि में, परमात्मा का वैसा प्रतिबिम्ब तो दृष्टिगत होता नहीं । भ्रांतिवश ही जल आदि में सूर्य आदि की उपस्थिति मान ली जाती, है वास्तव में तो वे वहाँ रहते नहीं । "जो पृथ्वी में स्थित हैं" "जो जल में स्थित है" इत्यादि वर्णनों में तो परमात्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है । सूर्य आदि की जो जल आदि से अनस्पृष्टता है,वह तो स्थिति के अभाव से

ankurnagpal108@gmail.com

है। परमात्मा की तो वैसी है नहीं। इसलिए उपमा उपमेय की तुल्यता न होने से उक्त द्रष्टान्त स्वीकार नहीं है।

परिहरति–उक्त वक्तव्य का परिहार करते हैं—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवं दर्शनाच्च।३।२।२०।।

पृथिव्यादिस्थानोन्तर्भावात् स्थानिनः परस्यब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादि स्थानगतवृद्धिह्रासादि दोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादि दृष्टांतेन निवर्त्यंते। कथमिदमवगम्यते? उभयसामंजस्यादेवम्-उभयदृष्टांत सामंजस्यादेवमिति निश्चीयते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषुपृथग् भवेत्"-"जलाधारेष्विवांशुमान्" इति दोषवत् स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चोभयस्य दृष्टांतस्योपादान हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्वनिवर्त्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समंजसं भवति।

पृथिव्यादि स्थानों में अन्तर्यामी होते हुए भी, परब्रह्म स्वरूप और गुण से, पृथ्वी आदि स्थानगत वृद्धि ह्रास दोषों से, कहने मात्र को ही संलग्न हैं, यही सूर्य आदि के दृष्टान्त से बतलाया गया है। "एक ही सूर्य भिन्न जलाधारों में भिन्न दीखता है" एक ही आकाश भिन्न घड़ों में भिन्न भिन्न हो जाता है "ये दोनों दृष्टान्त, केवल परब्रह्म के, पृथिव्यादिगत दोष संस्पर्श राहित्य मात्र के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार इन दृष्टान्तों का सामंजस्य हो जाता है।

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्रासभाक्षु पृथक् पृथक् संयुज्यमानं अप्याकाशं वृद्धिह्रासादिदोषैर्न स्पृश्यते, यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानोंऽशुमान् तद्गत् वृद्धिह्रासादिभिर्न स्पृश्यते, तथाऽयम् परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषुचेतनेषु च स्थितः तदगत् वृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्रवर्त्तमानोऽप्येकएवास्पृष्ट दोषगंधः कल्याणगुणाकर एव। एतदुक्तं भवति-यथा जलादिषु

ankurnagpal108@gmail.com

वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वंगः तथापृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वाभावान्न दोषसंबंध, इति। दर्शनाच्च-दृश्यते चैवं सर्वात्मना साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितांशसाधर्म्यात् दृष्टांतोपादानं "सिंहइव माणवकः" इत्यादौ। अतः स्वभावतोनिरस्तनिखिलाज्ञानादि-दोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि न दोष संभवः।

घट करवा इत्यादि बड़े छोटे पात्रों में पृथक्-पृथक् स्थित आकाश जैसे वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है तथा–विभिन्न जलाधारों में प्रतिबिंबित सूर्य जैसे–उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है, वैसे ही यह परमात्मा, पृथिव्यादि विभिन्न आकार वाले अचेतनों और चेतनों में स्थित रहते हुए भी उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित हैं, सर्वत्र व्याप्त होकर भी एक और निर्दोष और कल्याण गुणों के भंडार हैं। कहने का तात्पर्य है कि–जैसे–जलादि में अवस्थित सूर्य कारण के अभाव से जलादिगत दोषों से अनासक्त रहता है, वैसे ही पृथिव्यादि में स्थित परमात्मा तदाकार न होने से, दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं। ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। हर प्रकार की समानता न होते हुए भी, केवल अभिप्रेत अंशमात्र समानता के आधार पर दृष्टान्त दिया जाता है–"यह बालक सिंह के समान है" इसलिए यह निश्चित होता है कि–स्वभाव से निर्दोष समस्त कल्याणमय गुणों के भंडार परमात्मा, पृथिव्यादि स्थानों में स्थित होकर भी उनके दोषों से रहित हैं।

अथस्यात्–"द्वेवावब्रह्मणोरूपेमूर्त्तंचामूर्त्तमिव च" इति प्रकृत्य समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपंचंब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्यरूपं यथा महारजनं वासः" इत्यादिना आकारविशेषंचाभिधाय "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः प्रकारमिति शब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य सर्वंविशेषाधिष्ठानं

ankurnagpal108@gmail.com

सन् मात्रमेव ब्रह्म, विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूपमजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति, अतः कथमुभयलिगत्वं ब्रह्मण इति-अत्राह–

आपत्ति की जाती है कि–"ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप प्रसिद्ध हैं" इत्यादि भूमिका में, स्थूल सूक्ष्म सारे जगत को, ब्रह्म का रूप बतलाकर "उस परमात्मा का रूप हरिद्रारंजित वस्त्र के समान है" इत्यादि से आकार विशेष बतलाकर-"कहा गया कि–वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इससे कोई उत्कृष्ट नहीं, इससे पृथक् कुछ और नहीं" इत्यादि से ब्रह्म के सारे प्रकारों को इति शब्द से बतलाकर, उन सबका प्रतिषेध कर यह दिखलाया गया है कि–समस्त विषयों का आश्रयभूत केवल सत् स्वरूप ब्रह्म ही है तथा सारी विशेषतायें अपने स्वरूप को न जानने वाले ब्रह्म से कल्पित हैं। इसलिए ब्रह्म की उभयलिंगता संभव नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः ।३।२।२१॥

नैतदुतपपद्यते-यद् ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यत इति, तथासति भ्रांतजल्पितायमानत्वात् । न हि ब्रह्मणो विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तदविशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवानुन्मत्तः प्रतिषेधति । यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तर प्रसिद्धाः, तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं च अज्ञातम्। अतस्तेषामनुवादा-संभवादत्रैवोपदिश्यंते । अतस्तन्निषेधो नोपपद्यते । यस्मादेवं, तस्मात् प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधतीदं वाक्यम् । ये ब्रह्मणोः विशेषाः प्रकृताः, तद् विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यते । "नेति नेति" नैवं नैवं उक्त प्रकारमात्र-विशिष्टं न भवति ब्रह्म, उक्त प्रकार विशिष्टतया ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता, साऽत्र इति शब्देन परामृश्यत इत्यर्थः ।

ऐसा नहीं हो सकता–"नेति नेति" श्रुति से तो ब्रह्म की वास्तविक विशेषता का निषेध किया गया है। यदि उक्त तात्पर्य मानेंगे तो शास्त्रों

ankurnagpal108@gmail.com

की भ्रांतजल्पता होगी। जिन विशेषणों से ब्रह्म की विशेषता बतलाई गई, उनके अतिरिक्त किन्हीं अन्य प्रामाणों से तो उनकी विशेषता ज्ञात होती नहीं, विशेषता बतलाकर उसी का निषेध करना तो पागलों का ही कार्य हो सकता है। यद्यपि निर्दिष्ट विशिष्टताओं में, कुछ अन्य प्रामाणों में भी प्रसिद्ध हैं तथापि अन्य वाक्यों से ब्रह्म की प्रकारता ज्ञात नहीं होती। और न अन्य पदार्थों के स्वरूप को ही, ब्रह्म के प्रकार रूप से बतलाया गया है। इसलिए "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपं" इत्यादि वाक्य को, ब्रह्म की विशेषता बतलाने वाले वाक्यों का अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता। यही मानना होगा कि–इस वाक्य में ब्रह्म की प्रकारता का विशेषोल्लेख है। "नेति नेति" से उसका निषेध नहीं हो सकता। जैसी इसकी विशेषता बतलाई गई है उस पर विचारने से तो यही ज्ञात होता है कि–"नेति नेति" वाक्य, परब्रह्म की इयत्ता का ही प्रतिषेध करता है। जो ब्रह्म की स्वाभाविक विशेषतायें हैं उससे ब्रह्म की जो विशिष्ट रूप से प्रतीत होने वाली इयत्ता है "नेति नेति" में उसी का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्–ब्रह्म जैसा विशिष्ट प्रकार का बतलाया गया है उतना मात्र ही नहीं है "नेति नेति" से उसी का प्रतिषेध किया है उक्त प्रकार से प्रस्तुत ब्रह्म की विशिष्ट इयत्ता को इति शब्द से बतलाया गया है।

यतश्च निषेधानंतरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं प्रतिषेधति। ब्रवीति हि भूयो गुणजातं "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्त्यथनामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। अयमर्थः इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितम् तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः। तस्य ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयं। तस्य च निर्वचनं–"प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। प्राणशब्देन प्राणसाहचर्यात् जीवाः परामृश्यन्ते, तेतावत्सत्यम्, वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूप परिणामाभावात्-तेषामेव सत्यम्-तेभ्योऽप्येष परमपुरुषः सत्यम्। जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचविकासौ विद्येते। परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्म-

ankurnagpal108@gmail.com

नस्तौ न विद्येते, अतस्तेभ्योऽप्येष सत्यम् । अतश्चैवं वाक्यशेषोदित-गुणजातयोगात् "नेति नेति" इति ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिषिध्यते, अपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रम् । अत उभयलिंगमेव परंब्रह्म ।

निषेध के बाद भी, ब्रह्म के अधिक गुणों का वर्णन किया गया है जिससे निश्चित होता है कि– ब्रह्म की प्रस्तुत, विशिष्ट इयत्तामात्र का ही प्रतिषेध किया गया है। पुनः विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार का है–"नेति से जो ब्रह्म का निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य है कि–उस ब्रह्म से कुछ अतिरिक्त भिन्न नहीं है, उस ब्रह्म का नाम सत्यों का सत्य है अर्थात् सत्यस्वरूप प्राणों में वही सत्य है "इत्यादि। इस वाक्य का तात्पर्य है कि "नेति नेति" से जो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उससे कुछ परे नहीं है अर्थात् परमात्मा से कोई गुणों में उत्कृष्ट नहीं है। इसीलिए वह सत्यों का सत्य है। प्राण शब्द से प्राणों के सहचारी जीवों का उल्लेख है अर्थात् वे भी सत्य हैं। उनका आकाश आदि की तरह स्वरूप का अन्यथाभाव परिणाम नहीं होता इसलिए वे सब सत्य हैं उनमें भी यह ब्रह्म सत्य हैं। इससे निश्चित होता है कि–"नेति नेति" ब्रह्म की सविशेषता का प्रतिषेध नहीं करता अपितु प्रस्तुत इयत्तामात्र का प्रतिषेधक है। इसलिए वह ब्रह्म दोनों प्रकार की विशेषता वाला सिद्ध होता है।

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगोचरत्वेन तत्संबंधितया मूर्त्तामूर्त्तादि रूपानुवादेन तन्निषेधासंभवात् प्रकृतेयत्ताप्रतिषेध उक्तः, तदेव प्रमाणान्तरा गोचरत्वं दृढयति ।

ब्रह्म जब अन्य किन्हीं प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं तब उन्हें मूर्त्तअमूर्त्त बतलाकर प्रतिषेध करना भी संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रसंग में इयत्ता का प्रतिषेध ही निश्चित होता, इस बात को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करते हैं।

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२२।।

तत्–ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते आह हि शास्त्रं "न संदृशे

ankurnagpal108@gmail.com

तिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "इत्यादि।

वह ब्रह्म किन्हीं अन्य प्रमाणों से वाच्य नहीं है, जैसा कि–शास्त्र का वचन है–"इसका स्वरूप दृष्टि पथ पर आरूढ़ नहीं होता, कोई इसे इन नेत्रों से देख नहीं सकता "वह नेत्र और वाणी से ग्राह्य नहीं है" इत्यादि।

हेत्वन्तरं चाह-और कारण भी बतलाते हैं-

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२३॥

अपि च संराधने–सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारः। नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमानः" इति श्रुतिः।

स्मृतिरपि–"नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया" भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप"। इति,

भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनं तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम् अतो निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् "द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादि शास्त्रं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवदितुं क्षमम्।

संराधन अर्थात् प्रेमाभक्ति रूप निदिध्यासन से ही साक्षात्कार होता है, अन्य उपायों से नहीं ऐसा श्रुति स्मृतियों से ही निश्चित होता है। जैसे कि–"यह परमात्मा, प्रवचन–बुद्धि या अधिक शास्त्राभ्यास से लभ्य नहीं है, जिसे वह स्वयं वरण करते हैं, उसे ही वह मिलते हैं, वे अपने को उसके समक्ष प्रकट कर देते हैं "पहिले ज्ञान प्रसाद द्वारा चित्त

ankurnagpal108@gmail.com

शुद्ध होता है, बाद में ध्यान करते-करते उस अखंड स्वरूप का दर्शन होता है "इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं।

स्मृति में भी जैसे-"मैं वेद-तप-दान-यज्ञ आदि किसी से भी दृष्ट नहीं हूँ एकमात्र अनन्य भक्ति से ही मुझे इस प्रकार देखा जा सकता है' एकमात्र भक्ति से ही मुझे देखा या समझा जा सकता।" इत्यादि

उक्त प्रकार की भक्तिरूपता को प्राप्त उपासना को ही संराधन कहते हैं। उस परमात्मा की प्रियता ही महत्व रखती है ऐसा हम प्रथम ही बतला चुके हैं। इस प्रकार के निदिध्यासन के लिए-ब्रह्म के स्वरूप का "द्वेवाव ब्रह्मणः" इत्यादि से उपदेश दिया गया है। यह शास्त्रवचन निदिध्यासन के लिए मूर्त्त अमूर्त्त दो रूपों का वर्णन करता है, इसे अनुवाद मात्र नहीं कह सकते।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२४।।

इतश्च प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति, न मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वम्, यतः साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवत्, ज्ञानानंदादिस्वरूपवन्मूर्त्तादिप्रपंचविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशेष्यं प्रतीयते "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहंमनुरभवं, सूर्यश्च" इत्यादि। ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानंदादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधनात्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते। तद्वदेवाभ्यस्तसंराधनानां तेषां मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयत इत्यर्थः।

इसलिए भी इयत्ता का प्रतिषेध किया गया प्रतीत होता है कि-वामदेव आदि ऋषियों के साक्षात्कार में अनुभूत प्रकाशादि अर्थात् ज्ञान आनंद आदि स्वरूप की तरह, मूर्त्त अमूर्त्त आदि की विशिष्टता भी, जो कि ब्रह्म की गुणरूप है, इसकी कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती-"वामदेव ने ब्रह्म का दर्शन कर विचार किया कि-मैं ही मनु हुआ था, एवं मैं ही सूर्य हुआ था।" इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि-ब्रह्म के स्वरूपभूत प्रकाश आनंद आदि, वामदेव आदि के साधनात्मक कर्म में, अभ्यास से ही प्राप्त

ankurnagpal108@gmail.com

हुए। उसी प्रकार संराधन में अभ्यस्त. उन लोगों के समक्ष मूर्त अमूर्त आदि जगतात्मभाव समानरूप से अनुभूत होता है।

उक्तं ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपसंहरति—

उक्त ब्रह्म की उभयलिंगता का उपसंहार करते हैं—

अतोऽनंतेन तथाहि लिंगम् ।३।२।२५॥

अतः, उक्तै र्हेतुभिर्ब्रह्मणः, अनंतेनकल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम्। तथाहि सत्युभयलिंगम् ब्रह्मोपपन्नं भवति।

ऊपर कहे गए हेतुओं से, ब्रह्म की अनंत कल्याणगुणों की विशिष्टता सिद्ध होती है और इसी से ब्रह्म की उभयलिंगता भी सिद्ध होती है।

६ अहिकुंडलाधिकरणः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुंण्डलवत् ।३।२।२६॥

मूर्त्तामूर्त्तात्मकस्य अचित् प्रपंचस्यब्रह्मणोरूपत्वं "द्वे वावब्रह्मणो रूपे" इत्यादिनोपदिश्यते "अथात आदेशो नेति नेति" इति मूर्त्तामूर्त्ताचिद्वस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिषिध्यते। "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नह्यस्तीति प्रतिपादितम्। तदुपपादनाय "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येष सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादि संकोचाभावादुक्तम्"। तथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः" "पतिं विश्वेश्वरस्यात्मेश्वरम्, "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादि श्रुतेश्चायमर्थोऽवगम्यते। तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिध्यर्थम्—किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुंडलन्यायेन, उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन, उत जीवस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेन इति। इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभावमंगीकृत्य

ankurnagpal108@gmail.com

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टांतानुपरोधात्" तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम् ।

मूर्त्त अमूर्त्त जगत् प्रपंच को, ब्रह्म का रूप "द्वे वाव ब्रह्मणो" में बतलाया गया है। "अर्थात आदेशो नेति नेति" श्रुति से मूर्त्त अमूर्त्त जड़वस्तुरूप ब्रह्म की इयत्ता का निषेध किया गया है। तथा-"नहि एतस्मात्" श्रुति से कहा गया है कि–उस ब्रह्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। उसके समर्थन के लिए "अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" इत्यादि श्रुति से प्राण शब्द वाच्य चेतन जीवों की अपेक्षा, परमात्मा की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा को परम सत्य इसलिए बतलाया गया है कि उसकी ज्ञान शक्ति का कभी संकोच नहीं होता। "प्रकृति पुरुष का भी वह ईश्वर और गुणाधिपति है "उस जगत के पति और आत्मा के स्वामी को" उस नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन को" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त तात्पर्य की बोधिका हैं। ब्रह्म की निर्दोषता सिद्ध करने के लिए यहाँ, उसी अचित् वस्तु की ब्रह्मरूपता के प्रकार का विचार करते हैं कि–इसकी ब्रह्मरूपता अहिकुंडल की तरह, प्रभा और प्रभावान की तरह एक जातीय है? अथवा-जीव की तरह विशेषण विशेष्यभूत अंशांशी भाववाली है? विशेषण विशेष्य भाव ही यहाँ स्थापित करना होगा, इस पक्ष को स्वीकार करके-प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टांता -नुपरोधात्" और "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इन दो सूत्रों में, सूक्ष्म चेतनअचेतन विशिष्ट ब्रह्म से, स्थूल चेतन अचेतन वस्तु विशेष की उत्पत्ति और अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

किं युक्तम्? अहिकुंडलवदिति, कुतः? उभयव्यपदेशात्-"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इति तादात्म्यव्यपदेशात् "हंताहमिमास्तिस्रोदेवताः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि भेदव्यपदेशाच्च अहेः कुंडलभाव-ऋजुभाववत् तस्यैव ब्रह्मणः संस्थान विशेष एवाचिद्वस्तूनि ।

ऊपर का कौन सा पक्ष युक्तिपूर्ण है? इस पर विचारने से अहिकुंडल की तरह ही, ब्रह्म और मूर्त्त अमूर्त्त जगत का संबंध प्रतीत होता है। "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" ऐसे तादात्म्यपरक अभेद के उल्लेख से तथा

ankurnagpal108@gmail.com

"इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रवेश करके" इत्यादि भेद के उल्लेख से, सर्प के कुंडलभाव और सीधेसपाट भाव की तरह सारी जड़ वस्तुएं, ब्रह्म की संस्थान विशेष रूप सिद्ध होती हैं।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२७॥

वा शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिताभवेयुः, अतो यथा तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रयोरपितादात्म्यम्, एवमचित्प्रपंचस्य ब्रह्मणोरूपत्वमित्यर्थः ।

पूर्व पक्ष के सिद्धान्त का निवारक सूत्रस्थ वा शब्द है। स्वरूपतः ब्रह्म ही यदि अचेतन पदार्थों के रूप में स्थित माने जावेंगे तो भेद और अपरिणामता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ निरर्थक हो जावेंगी, इसलिए तेजस्वितारूप से, प्रभा और उसके आश्रय का जैसा तादात्म्य होता है, वैसी ही अचेतन प्रपंच को भी, ब्रह्मरूपता है।

पूर्ववद् वा ।३।२।२८॥

वा शब्दः पक्षद्वयव्यावृत्यर्थः। एकस्यैव द्रव्यस्यावस्था विशेषयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यरूपत्वात् उक्तदोषादनिर्मोक्षः। अथप्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्बृंहत्वजातियोगमात्रम्, एवंतर्हि अश्वत्वगोत्वत् ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द उक्त दोनों पक्षों का निवारक है। यदि एक ही द्रव्य की अवस्था विशेष योगिता मानी जाय तो ब्रह्म स्वरूप की ही अचिद् वस्तु रूपता सिद्ध हो जावेगी, जिससे कि पूर्वोक्त दोष से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। यदि प्रभा और उसके आश्रय की तरह, अचेतन और ब्रह्म में केवल, ब्रह्मत्व जातिमात्र का ही संबंध मानते हैं तो अश्वत्व और गोत्व आदि जातियों की तरह, ईश्वर एवं चेतन अचेतन वस्तु से अनुगत ब्रह्म भी एक सामान्य जाति मात्र रह जायगा, जो कि-सभी श्रुति-स्मृति शास्त्रीय मत के विरुद्ध है।

ankurnagpal108@gmail.com

पूर्ववदेव "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तुनैवंपरः" इति जीववत् पृथक् सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचित्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम् विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारोमुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। तदेवं प्रकाशजाति गुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः -प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणविशेषणतया यथांशत्वम्, तथेह जीवस्याचिद्-वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम्।

इसलिए पूर्व मत के अनुसार "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" इन दो सूत्रों में जीव की जैसी ब्रह्मांशता बतलाई गई है वैसी ही यहाँ भी, ब्रह्म से भिन्न न कहलाने योग्य अचित् वस्तु की भी ब्रह्मांशता सिद्ध होती है। विशिष्ट वस्तु के एकदेशीय होने से, मुख्य रूप से अभेद व्यवहार होता है, तथा विशेषण विशेष्य में स्वरूप का भेद होने से, मुख्यरूप से भेद का व्यवहार होता है, इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। इससे निश्चित होता है कि-जैसे-प्रकाश-ज्योति-गुण और शरीर जैसे मणि-व्यक्ति-और गुणी आत्मा को छोड़ कर अलग टिक नहीं सकते, यही उनकी अपृथक् सिद्ध विशेषता है, इसीसे वे, मणि आदि अंश हैं, वैसे ही, जीव और जड़ वस्तु की, ब्रह्मांशता है।

प्रतिषेधाच्च।३।२।२९॥

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः "नास्यजरयैतत् जीर्यति इत्यादिभिः ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधाच्च' विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इत्यर्थः। अतः सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुविशिष्टं कारण भूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति, कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम्। कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्यज्ञाततेत्यादि सर्वमुपपन्नं, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याणगुणाकरत्वेन। चोभयलिंगत्वमपि सिद्धम्।

ankurnagpal108@gmail.com

"यह आत्मा महान् अज और जरा मरण रहित है" इसका शरीर जरा से जीर्ण नहीं होता "इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म के अचित् धर्मों का प्रतिषेध किया गया हैं, जिससे अचित् और ब्रह्म का विशेषण विशेष्य भावरूप अंशांशितभाव निश्चित होता है। सूक्ष्म चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कारण स्वरूप है तथा स्थूल चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कार्य स्वरूप है, इसलिए कारण से कार्य की अनन्यता है। कारण ब्रह्म के जान लेने से कार्य की जानकारी आदि सभी बातों का समाधान हो जाता है तथा निर्दोषता भी सुरक्षित हो जाती है इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और कल्याण गुणाकरता ये दोनों सिद्ध हो जाती है।

७ पराधिकरणः—

परमतः सेतून्मानसंबंधभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३०।।

इदानीमस्मात्परस्मात्जगन्निमितोपादानरूपपरमकारणात् परब्रह्मणः परमपि किंचित्तत्वमस्तीति कैश्चित् हेत्वाभासैराशंक्य निराक्रियते। अस्योपास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वस्थेम्ने। तत्रेयमाशंका यदिदं परं ब्रह्मोभयलिंगं, एतस्मान्निखिलजगत्कारणात् परमपि किंचित्तत्वमस्ति। कथम्? "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इत्यस्यपरस्य सेतुव्यपदेशात्। सेतु शब्दस्य च लोके कूलान्तर प्राप्तिहेतौ प्रसिद्धेरितोऽन्यदनेन प्राप्तव्यमस्तीति गम्यते। तथा—एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्नंधो भवति" इति तरितव्यतया चास्याभिधीयते अतश्चान्यत्प्राप्यमस्ति। उन्मानव्यपदेशाच्च—उन्मितं परिमितम् इदं परंब्रह्म "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" इत्युन्मानव्यपदेशात्। स चायमुन्मानव्यपदेशः तेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तितां द्योतयति। तथा संबंधव्यपदेशाश्च सेतु सेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणोदृश्यते "अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलं "अमृतस्यैष सेतुः" इति। अतश्च परात्परमस्ति।

ankurnagpal108@gmail.com

भेदेन च परात्परं व्यपदिश्यते—"परात्परं पुरुषमुपैति" परात्परं यन्महतो महान्तम्" इति च । तथा—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति । अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्मणः परमपि किंचिदस्तीति गम्यत इति ।

अब जगत के निमित्तोपादान परम कारण इस परब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व अवश्य है, ऐसी हेत्वाभास की दृष्टि से शंका करके उसका निराकरण करते हुए, ब्रह्म के उपास्य रूप की निर्दोषता और अतिशय कल्याणगुणाकरता की सिद्धि करते हैं ।

आशंका यह है कि—यदि यह ब्रह्म दोनों प्रकार का है, तो संपूर्ण जगत का कारण कोई और ही तत्त्व निश्चित होता है । "यह जो आत्मा है, वही सब लोकों का विधारक सेतु है" इत्यादि से किसी दूसरे की सेतुता का ही निर्देश प्रतीत होता है, क्योंकि—लोक में सेतु शब्द इस पार से उस पार तक पहुँचाने वाले, आधार रूप पुल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए कोई अन्य प्राप्तव्य ही प्रतीत होता है तथा—"इस सेतु को पार कर अन्धा भी अनन्धा हो जाता है" ऐसी पार करने वाली बात स्पष्ट कही गई है । उन्मान के व्यपदेश से भी यही बात निश्चित होती है उन्मित अर्थात् ब्रह्म परिमित है जैसा कि—"ब्रह्म चतुष्पद है" सोलह कला वाला है" इत्यादि उन्मान बोधक वाक्यों से ज्ञात होता है । ऐसा उन्मान का व्यपदेश सेतु द्वारा प्राप्य अनुन्मित के अस्तित्व का द्योतन करता है । इन वाक्यों में प्राप्य प्रापक तथा सेतु—सेतुमान का संबंध दिखलाया गया है । "जली हुई लकड़ी के समान अमृत के सेतु को" तथा "यह अमृत का सेतु है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—परब्रह्म से भी कोई पर है । पर से पर की भिन्नता भी—"पर को अपेक्षा भी पर को प्राप्त करता है "वह पर से भी पर और महान् से महान है" इत्यादि वाक्यों में बतलाई गई है । तथा—"उस पुरुष द्वारा ही सब परिपूर्ण है, जो कि—अतिशय परवर्त्ती, नीरूप, निरामय है" इत्यादि से भी, परब्रह्म से भी कोई पर है ऐसी प्रतीति होती है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

इस शंका पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

सामान्यात्तु ।३।२।३१॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात् परात्परमस्तीति तन्नोपपद्यते । न ह्ययमत्र किंचित्प्राप्यं प्रति सेतुरुच्यते "एषां लोकानामसंभेदाय" इति सेतु सामान्येन सर्वलोकासंकरकरत्वश्रुतेः । सिनोतिवध्नातिस्वस्मिन् सर्वं चिदचिद् वस्तुजातं असंकीर्णमिति सेतुरुच्यते । "एतं सेतुं तीर्त्वा" इति तरतिश्च प्राप्तिवचनः । यथा "वेदान्तं तरति" इति ।

तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । जो लोग यह कहते हैं कि–सेतु के उल्लेख से पर से भी किसी अन्य पर तत्त्व का बोध होता है, वह उनकी मिथ्या धारणा है । इस प्रसंग में किसी प्राप्य के लिए, सेतु का साधन रूप से उल्लेख नहीं किया गया है । "इस समस्त जगत के असंभेद (असांकर्य) के लिए" इत्यादि वाक्य में सेतु के समान परब्रह्म की भी, सांकर्य निवारकता बतलाई गई है । जो अपने में चेतन अचेतन समस्त को असंकीर्ण भाव से बन्धन करे उसे ही सेतु कहते हैं [षिधातु से सेतु शब्द बना है, यह धातु बंधन अर्थ का द्योतन करती है] "इस सेतु को पार करके "इत्यादि तृ धातु प्राप्ति बोधक है, जैसे कि–"वेदांतं तरति" का अर्थ–"वेदांत को प्राप्त करता है" किया जाता है ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३२॥

योऽयं "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" पादोऽस्यविश्वाभूतानि" इत्युन्मानव्यपदेशः स बुद्ध्यर्थः–उपासनार्थः । "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म "इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् स्वत उन्मितत्वासंभवात् । जगत्कारणत्वं हि तस्यैव श्रूयते । "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयति" इति । अतो यथा–"वाक्पादः प्राणः-पादः चक्षुः पादो मनः पादः" "इत्यादिना ब्रह्मणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह "चारपादवालाब्रह्म "षोडशकलावाला" इसके एक पाद में संपूर्ण विश्व है" इत्यादि में उन्मान का व्यपदेश है वह बुद्धि अर्थात् उपासना के लिए है। "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि से जगत के कारण ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता प्रतीत होने से, उसका वास्तविक उन्मान संभव नहीं है। ब्रह्म की जगत कारणता का भी उक्त प्रसंग में स्पष्ट उल्लेख है- "उस ब्रह्म से आकाश हुआ "उसने कामना की अनेक होकर जन्म लूँ" इत्यादि। "वाणीरूपपाद, चक्षुरूपपाद, प्राणरूपपाद मनरूपपाद "इत्यादि में वाणी आदि को ब्रह्म का चरण कहा गया है, वह केवल उपासना के लिए है; यही उक्त उन्मान का भी तात्पर्य है।

स्वयमनुन्मितस्यकथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मान संभवः? तत्राह—

जब वह स्वयं अनुन्मित है तो उपासना के लिए उनकी उन्मान कैसे संभव है? इसका उत्तर देते हैं—

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३३॥

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्संबंधितयोन्मितत्वानुसंधानं संभवति। यथा प्रकाशादेर्विततस्य वातायनघटादिस्थानभेदैः परिच्छिन्नानुसंधानसंभव इत्यर्थः।

जैसे कि-व्यापक प्रकाश, खिड़की घट आदि विभिन्न स्थानों में प्रविष्ट होकर, उन उन स्थानों वाला कहलाता है, उसकी उनमें खोज की जाती है, वैसे ही अनुन्मित विभु परमात्मा भी, वागादि इन्द्रियों में अनुस्यूत होने से, उन इन्द्रियों में खोजा जाता है।

उपपत्तेश्च ।३।२।३४॥

यदुक्तम्-"अमृतस्यैष सेतुः" इति प्राप्यप्रापकसंबंधव्यपदेशात् प्रापकात् परं प्राप्यमस्तीति, तन्न, प्राप्यस्यपरंपुरुषस्य स्वप्राप्तौ स्वस्यैवोपायत्वोपपत्तेः। "नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमैवेषवृणुतेतेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इत्यनन्योपायत्वश्रवणात्।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि-"अमृतस्यैषसेतुः" श्रुति से प्राप्य प्रापक संबंध बतलाया गया है जिससे प्रापक सेतु भिन्न, किसी अन्य प्राप्य की प्रतीति होती है। सो बात नहीं है, प्राप्य परं पुरुष स्वयं ही, प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है, जैसा कि-"यह परमात्मा, प्रवचन-मेधा या विशेष शास्त्राभ्यास से लब्ध नहीं है, जिसे यह स्वयं वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है, उसके समक्ष स्वयं अपने को व्यक्त कर देना है।" इस वाक्य में परमात्मा को प्राप्ति का अनन्य उपाय बतलाया गया है।

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।३।२।३५।।

यत्पुनरुक्तं-"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात्परतः परः" इत्यादि भेदव्यपदेशात् परात्परमस्तीति-तन्नोपपद्यते-तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्-"यस्मात्परं नामरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्" इति। यस्मादपरं परं नास्ति किंचित्-न केनापि प्रकारेणपरमस्तीत्यर्थः। तथा-अन्यत्रापि "नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति। इति नेति निर्दिष्टादेतस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्परं न ह्यस्तीत्यर्थः। तथा-"न तस्येशे कश्चन् तस्य नाममहद्यशः" इति। तत् हि जगदुपादानकारणतयाऽनन्तरमुक्तं -"सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि "स आपः प्रदुघे उभे इमे" इत्यादिना। "अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" इति च जगत् कारणं पुरुषमेनं प्रत्यभिज्ञापयति।

और जो यह कहा कि-"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात् परतः परः" इत्यादि भेद परक वाक्यों से, परब्रह्म से पर किसी अन्य तत्त्व की प्रतीति होती है, सो यह कथन भी भ्रामक है, क्योंकि उसी प्रसंग में, परमात्मा से अन्य किसी श्रेष्ठ परतत्त्व का स्पष्ट निषेध किया गया है-"जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है तथा जिनसे सूक्ष्म और वृहत् भी कोई दूसरा नहीं है" इत्यादि, इसमें जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है का तात्पर्य है कि-किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसंग में

ankurnagpal108@gmail.com

भी "जैसे-"न हि एतस्मादिति नेति अन्यत परमस्ति" कहा गया, जिसका तात्पर्य है कि-इस ब्रह्म की अपेक्षा, कुछ और श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जैसे-"कोई भी उसका शासक नहीं है, उसका नाम ही महद्‌यश है" इत्यादि के बाद ही उसे जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है-"उस पुरुष से ही समस्त काल और विद्युत उत्पन्न होते हैं "उस परमात्मा ने इन स्वर्ग और अंतरिक्ष दोनों से जल का दोहन किया "जल से हिरण्यगर्भ हुआ" इत्यादि। सभी श्रुतियाँ परं पुरुष के ही जगत का परं कारण बतलाती हैं।

"ततो यदुत्तरतरं" इति किमुच्यत इति चेत्? पूर्वत्र-"वेदाहमेतं-पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽनाय" इति परस्यब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवामृतत्वसाधनं, नान्योऽमृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् "वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेणसर्वम् "इति पुरुषस्य परत्वं, तद् व्यतिरिक्तस्य परत्वासंभवं-च प्रतिपाद्य-"ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् य एतद्‌विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियंति" इति पूर्वोक्तमर्थं हेतुतो निगमयति -यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवारूपमनामयं यतः, ततो य एतत् पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवामृता भवंति, अथेतरे दुःखमेवापियंति इति। अन्यथोपक्रमविरोधोऽनन्तरोक्ति विरोधश्च। "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति पूर्वत्र "अक्षरात् परतः परः" इति अक्षरात्-अव्याकृतात् यः परः, समष्टिपुरुषः तस्मात् परो योऽदृश्यत्वादिगुणकः सर्वज्ञः परमपुरुषः, स एवेहापि" परात्परः" इति समष्टिपुरुषात् परत्वेनोच्यते।

यदि कहो कि-"ततोयदुत्तरतरं" का क्या उत्तर दोगे? तो सुनो-उक्त प्रसंग के पूर्व में ही-"अंधकार से रहित आदित्य की तरह ज्योतिर्मय इस महापुरुष को मैं जानता हूँ, जीव उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण

ankurnagpal108@gmail.com

करता है, मोक्षधर्म में जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में, महापुरुष परब्रह्म संबंधी वेदन को ही, अमृतत्व प्राप्ति का साधन रूप, अन्यतम मार्ग बतलाकर उसके समर्थन के लिए "जिसकी अपेक्षा उत्कृष्ट या अपकृष्ट कुछ और नहीं है तथा जिससे अतिसूक्ष्म या महान् भी कुछ और नहीं है वह वृक्ष की तरह स्तब्ध अकेला ही स्वर्ग में स्थित है, उस पुरुष से ही यह सारा जगत परिपूर्ण है" इस प्रकार पुरुष की परता और उससे भिन्न किसी अन्य की परता को असंभव बतलाकर "ततो यदुत्तरतरं" इत्यादि वाक्य में उसी पूर्वोक्त कथन के लिए पुनरुल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"वह परब्रह्म परमात्मा आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से रहित है, जो इस परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो-जाते हैं, इस रहस्य को न जानने वाले अन्य लोग दुःख कोही प्राप्त होते हैं" इत्यादि। उक्त प्रसंग की ऐसी संगति करने से उपक्रम से विरुद्धता होगी तथा परवर्ती वाक्य से भी विपरीतता होगी। "अक्षरात् परतः परः में" अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से पर जो समष्टि पुरुष है, उससे भी पर या उत्कृष्ट अदृश्यता आदि गुणों से विशिष्ट सर्वज्ञ परंपुरुष को ही "परात् परं "इत्यादि वाक्य में, परात् अर्थात् समष्टि पुरुष से पर अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया गया है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६॥

अनेन ब्रह्मणा सर्वगतत्वम्-सर्वस्यजगतोव्याप्तत्वम्, आयाम-शब्दादिभ्यः-सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्य-वगमयति। आयामशब्दस्तावत् "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् "यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, यद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः "आदिशब्दात्" ब्रह्मैवेदं सर्वम्" आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादयो गृह्यन्ते। अत इदं परं ब्रह्मैव सर्वास्मात्परम्।

सर्वव्यापकता के बोधक आयाम आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि—सारा जगत् ब्रह्म से परिव्याप्त है। ऐसी सर्वगतत्व की प्रतीति ही, ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करती है। आयाम शब्द

ankurnagpal108@gmail.com

का व्याख्यान जैसे—"सारा जगत उस पुरुष से ही पूर्ण है" इस जगत में जो कुछ भी दृष्ट श्रुत है, नारायण उन सभी में बाहर भीतर व्याप्त हैं 'धीरलोग–नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, उस भूतयोनि को भलीभाँति देखते हैं।" इत्यादि "यह सब कुछ ब्रह्म है" यह सब कुछ आत्म्य है" इत्यादि वाक्य ही, सूत्रस्थ आदि पद से अभिप्रेत हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि–परब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

८ फलाधिकरणः—

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३७।।

उक्तमुपासिसिषोपजननार्थं जीवस्य सर्वावस्थासु सदोषत्वं, प्राप्यस्य च परं पुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं, सर्वस्मात् परत्वं च, अतः परमुपासनं विवक्षन्मुपासीनानां परस्मादेवास्मात् पुरुषात्तत्प्राप्तिरूपमपवर्गाख्यं फलमिति संप्रति ब्रूते ।

उपासना में उत्साह बढ़ाने के लिए, जीवों की सदोषता और प्राप्य परं पुरुष की निर्दोषता-कल्याणगुणाकरता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है अब उपासना के प्रतिपादन के उद्देश्य से बतलाते हैं कि-उपासकों को परं पुरुष की कृपा से ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष भी प्राप्त होता है।

तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकमपि फलम्, अतएव परस्मात् पुरुषात् भवतीति सामान्येन "फलमतः" इत्युच्यते । कुत एतत्? उपपत्तेः, स एवहि सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्महोदारो यागदानहोमादि-भिरुपासनेनचाराधित ऐहिकामुष्मिक भोगजातं, स्वस्वरूपावाप्ति-रूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; नहि अचेतनं कर्म क्षणध्वंसिकालान्तर भाविफलसाधनं भवितुमर्हति ।

शास्त्रीय ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही फल, परं पुरुष परमेश्वर से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा "फलमत" शब्द से बतला रहे हैं। यह बात उपपत्तेः अर्थात् विवेचन से ही ज्ञात होती है। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति निरतिशय,

ankurnagpal108@gmail.com

उदार प्रकृति वे परमात्मा ही—दानयज्ञ आदि क्रियाओं और उपासना द्वारा आराधित होकर, ऐहिक और पारलौकिक अनेक प्रकार के भोगों और सारूप्य मुक्ति प्रदान करने में, समर्थ हैं। अचेतन क्षणध्वंसी कर्म, कभी भी कालान्तरभावी फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकता।

श्रुतत्वाच्च।३।२।३८॥

"स वा एष महानज आत्माऽन्नादोवसुदानः" "एष एव हि आनंदयाति" इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव ददातीति हि श्रूयते।

"ऐसा यह महान् अजन्मा परमात्मा ही अन्न और धन का दाता है "यही सबको आनंदित करता है" इत्यादि श्रुतियों में भी परमात्मा को ही, भोग और अपवर्ग का दाता बतलाया गया है।

धर्मं जैमिनिरत एव।३।२।३९॥

अत एव उपपत्तेः, शास्त्राच्च, यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिराचार्यो मन्यते। लोके हि कृष्यादि कर्मं, दानादिकं च कर्मं, साक्षाद् वा, परम्परया वा स्वयमेवफल साधनं दृष्टम्, एवं वेदेऽपि यागदानहोमादीनां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्व द्वारेण फलसाधनत्वमुपपद्यते। तथा—"यजेत् स्वर्गकामः "इत्यादि शास्त्रमपि सिषाधयिषित स्वर्गस्यकर्त्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्यथानुपपत्त्या अपूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमवगमयति।

आचार्य जैमिनि, पूर्वोक्त प्रकार की युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर, दान—यज्ञ और उपासना रूप धर्म-कर्म को ही फलप्रद मानते हैं। जगत में कृषि आदि और दान आदि कर्मों को ही, साक्षात् या परंपरा से स्वयं ही, फल साधन करते देखा जाता है। वेद में भी, यज्ञ दान होम आदि कर्म साक्षात् फल साधक न होते हुए भी, परम्परा या पुण्य रूप अपूर्व समुत्पादन द्वारा, फल साधक कहे गए हैं। "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि परक शास्त्र वाक्य भी, स्वर्ग की कामना के लिए कर्त्तव्य रूप से किये जाने वाले यागादि कर्मों की अवहेलना न होने पावे, इसलिए अपूर्व द्वारा ही फलसाधनता बतलाते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ।३।२।४०।।

तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, पूर्वोक्तं परंपुरुषस्यैव फलप्रदत्त्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः? हेतुव्यपदेशात्-"यज्देवपूजायाम्" "इति देवताराधनभूतयागाद्याराध्यभूताग्निवाय्वादि देवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिन् तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेशात् । "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामोवायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेवस्वेनभागधेयो-नोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" इत्यादिषु कामिनः सिषधयिषितफलसाधनत्व प्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशंकायुक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका न सहंते ।

इस सूत्र में तु शब्द पक्ष का निवारक है । पूर्वोक्त परं पुरुष की ही फल प्रदानता भगवान बादरायण को मान्य है । वे ऐसा, हेतु के उल्लेख के आधार पर मानते हैं । "यज्" धातु देव पूजा के अर्थ में प्रयोग की जाती है । देवता के आराधन रूप यागादि कर्मों के आराध्य, अग्नि वायु आदि देवताओं को ही, फलों के हेतु रूप से, वाक्यों में उल्लेख किया गया है । "वायु देवता को श्वेत बकरा की बलि प्रदान करो वायु क्षिप्रगामी देवता कहे गए हैं, वायु अपने भाग्य से ही दौड़ सकते हैं, वायु उसे ऐश्वर्य प्रदान करते हैं" इत्यादि में-फलाभिलाषी व्यक्ति की, अभीप्सित फल की साधना प्रणाली को बतलाने के लिए, विधि की अपेक्षा बतलाई गई है । इसमें इससे अतिरिक्त कोई और तात्पर्यार्थ की, कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार अपेक्षित फल साधनता के प्रकार की, शास्त्रावगति हो जाने के बाद भी उसको न मानना अथवा अश्रुत अपूर्व की कल्पना करना, विवेचकों को कदापि सह्य नहीं हो सकता ।

लिंगादयोऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्त्तृव्यापार साध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति, नान्यद लौकिकमिति प्रागेवोक्तंम् । तदेवं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दात्वाय्वादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते। वाय्वाद्यात्मना च परमपुरुषएवाराध्यतया फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति श्रूयते –"इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा" इति। अन्तर्यामि ब्राह्मणे च "यो वायौ तिष्ठन् यस्यवायुः शरीरम्" योऽग्नौ तिष्ठन्" य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रूयते।

विधिलिंग के प्रत्यय और यज् आदि धातु के सहयोग से ही विधि परक वाक्यों का विवेचन किया जा सकता है। लिंग आदि भी, देवताराधन के साधन भूत याग आदि, यज् धातु के अर्थ की, शास्त्र सम्मत यौगिक अर्थ के अनुसार, कर्त्तृ व्यापार संपादनीयता का ही समर्थन करते हैं। किसी अलौकिकता का प्रतिपादन नहीं करते, ऐसा कह भी चुके हैं। इसी प्रकार "वायु शीघ्रगामी देवता है" इत्यादि से वायु की फलप्रदानता प्रतीत होती है। वायु आदि के रूप से ही, परम् पुरुष आराध्य होकर-फलप्रदान करने के लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा श्रुति प्रमाण है–"जगत के नाभिस्वरूप इष्टापूर्त्त आदि कर्म के फलस्वरूप, जाय और जायमान इस विश्व को धारण करते हैं, वही वायु अग्नि, वही सूर्य और चंद्र हैं। इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी जैसे–"जो वायु में स्थित हैं वायु जिनका शरीर है "जो अग्नि में स्थित हैं" जो आदित्य में स्थित हैं" इत्यादि।

स्मर्यंते च–"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेवविदधाम्यहम्" सा तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते, लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हिं तान्" इति "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च "इति। प्रभुः फलप्रदायीत्यर्थः। "देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्ति मामपि" यान्तिमद्याजिनोऽपिमाम् "इति च।

स्मृति में भी इसी प्रकार–"जो जोभक्त श्रद्धापूर्वक जिस जिस मूर्त्ति की अर्चना करते हैं, मैं उन भक्तों को तदनुसार ही श्रद्धा प्रदान करता हूँ। वे लोग वैसी ही श्रद्धावाले होकर उन रूपों की आराधना का प्रयास करते हैं और मेरे द्वारा प्रदत्त अभीष्ट कामनायें प्राप्त करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ "प्रभु का तात्पर्य है फल प्रदायी।
"देवताओं के उपासक देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं"
"मेरे उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं।" इत्यादि।

लोके च कृष्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् संपाद्यतैः राजानं भृत्य द्वारेण साक्षाद्वाऽर्चयन्ति, अर्चितश्च राजा तत्तदर्चनानुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते। वेदांतास्त्वतिपतितसकलेतरप्रमाण संभावनाभूमि निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधं स्वाभाविकानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं पुरुषोत्तमं प्रतिपाद्य, तादाराधनरूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कारकीर्त्तनार्चनध्यानानि च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद् भोगापवर्गरूपं फलं च, वदंतीति सर्वं समंजसम्।

लोक में भी देखा जाता है कि—कृषि आदि द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन करके, स्वयं या भृत्य द्वारा उस अर्जित उत्पादन से राजा की अर्चना की जाती है, अर्चित होकर राजा अर्चना के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। वेदांत शास्त्र जो कि—शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है, ऐसे अविद्यादि दोषों से शून्य स्वाभाविक सर्वातिशायी, निरवधि अपार कल्याणमय गुणों के सागर उन पुरुषोत्तम को ही—उनके आराधनात्मक याग—दान होम आदि क्रियाओं तथा—स्तुति नमस्कार कीर्त्तन, अर्चना, ध्यान रूप आराधना के अनुसार, भोग मोक्ष रूप फल प्रदाता बतलाते हैं। यही सुसंगत सिद्धान्त है।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद

१ सर्व वेदांत प्रत्ययाधिकरण:—

सर्व वेदांत प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१।।

उक्त ब्रह्मोपासिसिषोपजननाय वक्तव्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम् इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहार विकल्पनिर्णयाय विद्याभेद चिन्ताप्रस्तूयते । प्रथमं तावदेकस्या वैश्वानर विद्यादिकाया अनेक शाखासु श्रूयमाणायाः किमेक विद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति । चिन्त्यते । अविशेष पुनः श्रवणस्य प्रकरणांतरस्य च भेदकत्वाच्छाखांतरे चोभयोरवर्जनीयत्वाद्विद्याभेद इति प्राप्तम् । अतएव "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" इति शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियमुपपद्यते । विद्यैक्ये हि विद्यांगस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शाखिनां प्राप्ते र्नियमो नोपपद्यते ।

ब्रह्मोपासना में अभीप्सा बढ़ाने के लिए, ब्रह्म की फलदातृता तक का वर्णन कर दिया गया । अब अनेक प्रकार की ब्रह्मोपासना संबंधी, गुण -संबंधी उपसंहार और विषय के निर्णय के लिए विद्या के भेदों पर विचार प्रस्तुत करते हैं । विभिन्न शाखाओं में वर्णित वैश्वानर आदि विद्यायें, एक ही हैं अथवा भिन्न इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि–विभिन्न प्रकरणों में एकही विद्या का जो एकसा ही वर्णन मिलता है, वह निश्चित ही किसी विशेष अभिप्राय से होगा, वैसे विद्या में भेद है । 'उसे ही ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिए जो विधिवत शिरोव्रत का पालन करने वाला हो "इत्यादि में शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही, विद्योपदेश का नियम बतलाया गया है । यदि विद्यायें एक होती तो

ankurnagpal108@gmail.com

विद्याओं के अंगभूत शिरोव्रत का सभी विद्याओं में, सामान्य रूप से नियम कहा जाता, उक्त वाक्य तो विद्याविशेष के लिए उक्त व्रत के उपदेश का नियम बतलाता है। इससे विद्याओं में भेद है, ऐसा निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्त उच्यते-सर्ववेदांतप्रत्ययमेकमुपासनामिति। कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् चोदनातावत् "उपासीत्" "विद्यात्" इत्येवं जातीयको धात्वर्थं विशेष विधिः। आदिशब्देन "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या विशेषात्" इति कर्मकाण्डशाखान्तराधिकरण-सूत्रोक्ताः संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते। एषां चोदनादीनामविशेषात् सैवेयं विद्येति शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञायते तथाहि-छांदोग्यवाजसनेयकयोः "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदनातावदेकरूपा, वेद्यैकनिरूपणीय-स्वरूपस्य विदिपर्यायस्योपासेर्वेद्यभूतवैश्वानरैक्याद्रूपमप्यविशिष्टम्, आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टाः फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः। अतएभिः प्रत्यभिज्ञानात्शाखान्तरेऽपि विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-सभी वेदांतों में एकही उपासना प्रतीत होती है। ऐसा प्रेरणादायक आदि वाक्यों के वर्णन से ज्ञात होता है। "उपासना करनी चाहिए "जानने से" इत्यादि क्रिया विशेष के बोधक विधि वाक्य ही प्रेरणादायक वाक्य हैं। आदि शब्द से यहाँ-"फल संयोग, रूप, विधि और नाम में कोई भेद नहीं है" इत्यादि कर्मकांडीय शाखान्तराधिकरण सूत्र में उल्लेख्य संयोग-स्वरूप-और नाम, अभिप्रेत हैं। इन प्रेरणा दायक वाक्यों और संयोग आदि के सामान्यवर्णन से, शाखान्तरों में वर्णित "यह वही विद्या है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

छांदोग्य और वाजसनेयक में-"वैश्वानर की उपासना करो" ऐसी एक ही प्रकार की प्रेरणा की गई है, दोनों में जो, वेद्य का स्वरूपनिरूपण किया गया है, उससे भी वेद्य तत्त्व की एकता प्रतीत होती है। समानार्थक उपासना में जब, वेद्य वैश्वानर एक ही तत्त्व है तो उसकी उपासना भी, एक ही रूप की होगी, नाम भी उसका वैश्वानर ही है, फल और संयोग

ankurnagpal108@gmail.com

भी, दोनों स्थानों में ब्रह्म प्राप्तिरूप ही बतलाया गया है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं से, शाखान्तरीय विद्या एक ही प्रतीत होती है।

यत्तूक्तमविशेषपुनः श्रवणात् प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति-तदनुभाष्य परिहरति—

जो यह कहा कि-एक ही प्रकार का दो स्थलों पर पुनः उल्लेख किया गया है, इससे विद्या भेद की प्रतीति होती है, इसलिए विद्या की एकता नहीं है; उसे ही उपस्थित कर परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३।३।२॥

अविशेष पुनः श्रुत्या प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न, विद्यैक्यमिति चेत्—एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपतृभेदात्पुनः श्रुतिः प्रकरणान्तरं चोपपद्यते । यत्रह्येकस्मिन् प्रतिपत्तरि पुनः श्रुतिप्रकरणान्तरं च विद्यते, तत्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदान् विद्याभेदः, प्रतिपतृभेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया पुनः श्रुत्याद्युपपत्तेस्तत्र न विधेयान्तर संभवः ।

यदि कहो कि—एक से पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद से विधेय का भेद प्रतीत होता है, इसलिए विद्या एक नहीं है। तो एकही विद्या में, प्रतिपादन के भेद से, पुनरुल्लेख और प्रकरणान्तर का होना असंभव नहीं है। जहाँ श्रोता एक होते हुए भी, पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद है, वहाँ उपदेष्टा के भेद होने से विधेय (विद्या) का भेद हो गया है। श्रोता के भेद में तो समझाने के लिए पुनरुल्लेख हो जाना स्वाभाविक ही है। विधेय में भेद होना संभव नहीं है।

यच्चोक्तं शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियमदर्शनात् विद्याभेदः प्रतीयत इति तत्राह—

और जो यह कहा कि—शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही विद्योपदेश का नियम किया गया है, इससे विद्या भेद प्रतीत होता है। इस पर कहते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्चसववच्च तन्नियमः ।३।३।३॥

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयति-इति शिरोव्रतस्य विद्यांगत्वाभावात् । स्वाध्यायस्यतथात्वे हि तन्नियमः स्वाध्यायस्य तथात्वसिद्ध्यर्थं, तज्जन्यसंस्कारभाक्त्वसिद्ध्यर्थं हि शिरोव्रतोपदेशनियमः, न विद्यायाः । कुत एतत्? "नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीत् "इति तस्याध्ययन संयोगात् समाचारेऽधिकाराच्च-समाचाराख्येग्रन्थे-"इदमपिवेद व्रतेनव्याख्यातम्" इत्यतिदेशात्। "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यायां वदेत्" वेदविद्यामित्यर्थः । सववच्च तन्नियमः, यथाहि-सवहोमाः सप्तसूर्यादयः शतोदनपर्यन्ता आथर्वणिकैकाग्नि संबंधिनस्तत्रैव भवंति न त्रेताग्निषु ।

शिरोव्रत के आधार पर जो विद्या का भेद बतलाते हो वह भी निराधार है, शिरोव्रत की विद्यांगता का कहीं भी उल्लेख नहीं है । विद्या सिद्धि के लिए स्वाध्याय का वैसा प्रकार बतलाया गया है अर्थात् स्वाध्याय की तत्वार्थ सिद्धि के लिए शिरोव्रत संस्कार से संपन्न होना आवश्यक है, इसलिए शिरोव्रत की अनिवार्यता बतलाई गई है, विद्या के लिए नहीं । "व्रतानुष्ठान रहित व्यक्ति इसका अध्ययन न करे "इस श्रुति में शिरोव्रत के साथ अध्ययन का संयोग दिखलाया गया है तथा-सदाचार को बतलाने वाले ग्रन्थों में, सदाचार के अधिकार की बात का स्पष्ट उल्लेख है कि-"उन लोगों को ही इसविद्या का उपदेश दो" अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दो । इससे भी उक्त मत पुष्ट होता है । जैसे कि-आथर्वणिक एकाग्नि संबंधी, सूर्य आदि शतोदन पर्यन्त सात, सवहोम उसी में संपन्न होते हैं, त्रेताग्नि संपूर्ण में नहीं होते वैसे ही इस शिरोव्रत का पालन अथर्ववेदाध्ययन के लिए ही आवश्यक है, संपूर्ण विद्या के लिए नहीं है ।

दर्शयति च ।३।३।४॥

दर्शयति च श्रुतिरुपासनस्य सर्ववेदांत प्रत्ययत्वम्--तथाहि-

ankurnagpal108@gmail.com

छांदोग्ये—"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्युक्त्वा—"किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्" इति प्रश्नपूर्वकं अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टक-विशिष्टः परमात्मा तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम्। तैत्तरीयके तु छांदोग्यस्थं प्रतिनिर्देशमुपजीव्य "तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्त-स्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इति गुणाष्टक विशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुच्यते, तदुभयत्र विद्यैकत्वेन गुणोपसंहारादेवोपद्यते।

स्वयं श्रुतिभी—उपासना की दृष्टि से, विभिन्न वेदांतों में उल्लेख्य विद्या की एकता बतलाती है। जैसा कि—"उसमें जो निहित है वही अन्वेषणीय है "ऐसा कहकर—"इसमें ऐसा क्या है जिसका अन्वेषण किया जाय" ऐसा प्रश्न करते हुए, निर्दोषता आदि आठगुणों वाले परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है। तैत्तरीयक में इन्हीं छांदोग्योक्त गुणों का प्रतिनिर्देश किया गया है—"वहाँ जो दहराकाश है उसके अंदर निहित तत्त्व की उपासना-करनी चाहिए" इसमें भी आठगुणों वाले परमात्मा की ही उपासना बतलाई गई है इस प्रकार के गुणोपसंहार से, दोनों शाखाओं में एक ही विद्या का समर्थन प्रतीत होता है।

तदेवशाखान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विद्यैक्यं स्थिरीकृत्य तत्प्रयोजनमाह—

इस प्रकार विभिन्न शाखाओं के अधिकरणों में उल्लेख्य विद्या की एकता का निर्णय करके उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

उपसंहारोऽर्थाभेदात् विधिशेषवत्समाने च।३।३।५॥

एवं सर्ववेदांतेषु समाने सत्युपासने वेदांतांतराम्नातानां गुणानां वेदांतांतर उपसंहार कर्त्तव्यः, कुतः? विधिशेषवदर्थाभेदात्-यथै-कस्मिन्वेदांते श्रुतो वैश्वानरदहरादिविधिशेषो गुणस्तद्विद्यासंबंधात् तदुपकाररूपप्रयोजनसिद्ध्यर्थमनुष्ठीयते, तथा वेदांतांतरोदितोऽपि तद् विद्यासंबंधित्वेन तदुपकाराविशेषादुपसंहर्त्तव्य इत्यर्थः। च शब्दोऽवधारणे।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकार जब सभी वेदांतों में एक ही उपासना है, तो विभिन्न वेदांतों में कहे गए उपास्य के गुणों का भी उपसंहार करना चाहिए। विधि विशेष की तरह अर्थ का भी, प्रयोजन से अभेद होता है। जैसे कि–एक वेदांत में श्रुत, वैश्वानरोपासना विधि के अनुरूप गुण, उसविद्या से संबद्ध होने के कारण उसके उपकार रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अनुष्ठित होते हैं, वैसे ही विभिन्न वेदांतों में कहे गए गुण भी, उसी विद्या के उपकारक हैं, ऐसा मान कर ही उनका उपसंहार करना चाहिए। सूत्रस्थ च शब्द, अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है।

२ अन्यथात्वाधिकरण:–

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नविशेषात् ।३।३।६॥

एवं चोदनाद्य विशेषात् विद्यैकत्वं, एकत्वे च गुणोपसंहार: कर्त्तव्य इत्युक्तम् अत: परं काश्चन् विद्याअधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूत-चोदनाद्यविशेषोऽस्ति नेति निरूप्यनिर्णीयते।

ऊपर प्रेरणा आदि की सामान्यता के आधार पर विद्यैकता और एकता में गुणोपसंहार कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया। इसके बाद अब कुछ विद्याओं के उदाहरण प्रस्तुत कर, प्रत्यभिज्ञा के हेतु प्रेरणा आदि की, सामान्यता, उनमें है या नहीं? इसका निरूपण कर, सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे।

अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छंदोगानां च। वाजिनां तावत् –"द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इत्यारभ्य–"तेह देवा ऊचु: हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम:" इत्युद्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमन: पर्यन्तदृष्टौ असुरैरभिभवमुक्त्वा "अथ हेममासन्यं प्राणमूचु:" इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा–"भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद" इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। एवं छंदोगानामपि–"देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य–"तद् ह

ankurnagpal108@gmail.com

देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम: "इत्युद्गीथेनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तद्वदेवोद्गीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय–"अथ ह य एवायं मुख्य: प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" –इत्यादिना उद्गीथे प्राण दृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा "यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति शत्रुपराभवाय उद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। वेदनविषयविधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि फलसाधनत्व श्रवणात् वेदनविषयोविधि: कल्प्यते : उद्गीथ विद्याया: क्रत्वर्थत्वेन क्रतु सादगुण्यफलत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तदविरुद्धं ग्राह्यमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपादितम्।

उद्गीथ विद्या वाजसनेयी और छांदोग्य दोनों में है। वाजसनेयी में जैसे–"प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे देव और असुर "यहाँ से प्रारंभ करके–"उनमें से देवताओं ने कहा हम यज्ञ में उद्गीथ द्वारा असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि से असुरों के ध्वंस की प्रतिज्ञा दिखलाकर, वाक् से मन पर्यन्त प्राणों की उद्गीथ दृष्टि करने पर भी–असुरों ने, उन देवों को पराभूत कर दिया, ऐसा बतलाकर "फिर अपने निकटस्थ प्राण से कहा" इत्यादि में, उद्गीथ में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर "जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति रूप से स्थित होता है, और उससे द्वेष करने वाले भ्रातृव्य का पराभव होता है" इस प्रकार शत्रु पराजय फलवाली उद्गीथ में प्राण दृष्टि दिखलाई गई है। इसी प्रकार छांदोग्य में भी–"देवता और असुर जब आपस में लड़ रहे थे "यहाँ से प्रारंभ करके-"उन देवताओं ने उद्गीथ को लक्ष्य बनाकर यज्ञ किया, इसके द्वारा हम इन्हे हरा देंगे" इस प्राकार उद्गीथ द्वारा असुरों के पराभव की प्रतिज्ञा दिखलाकर, पूर्व की तरह उद्गीथ में वागादि दोषों को दिखलाकर–"जो यह मुख्य प्राण है, उद्गीथ रूप से उसी की उपासना की" इत्यादि से उद्गीथ में, प्राण दृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "खनित्र (छेनी) जैसे पत्थर से टक्कर खाकर टूट जाती है, ठीक उसी प्रकार जो उद्गीथस्थ पुरुष के संबंध में पापाचार करता है वह भी नष्ट हो जाता है" ऐसी शत्रु पराभवरूप फलसिद्धि के लिए उद्गीथ में प्राणदृष्टि का विधान किया गया। उद्गीथ

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकरण में उपासना विषयक विधि वाक्य के न होते हुए भी, उपासना की फलोत्पादकता कही गई है, जिससे उपासना विधि की स्वतः कल्पना हो जाती है। उद्गीथ विद्या यज्ञ की उपकारिका है, यज्ञोत्कर्ष करना ही उसका फल है, फिर भी जो अर्थवाद फल कहा गया है वह विरुद्ध नहीं है वह भी ग्राह्य है, ऐसा देवताधिकरण में बतला भी चुके हैं।

तत्र संशय्यते—किमत्र विद्यैक्यम्, उत नेति? किं युक्तं ? विद्यैक्यमिति कुतः,? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्व-श्रवणाच्चोदनाद्य विशेषात्। फलसंयोगस्तावच्छत्रु परिभवरूपो न विशिष्यते। रूपमप्यध्यस्त प्राणभावोद्गीथाख्योपास्यैक्यादि-विशिष्टम्। चोदना च विदिधात्वर्थंगताऽविशिष्टा। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा! अत्र राद्धान्तिच्छायया परिचोद्य परिहरति। "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्" इति।

अब संशय होता है कि—दो शाखाओं में वर्णित ये उद्गीथ विद्या एक है अथवा भिन्न है? विचारने पर ज्ञात होता है कि-एक है क्योंकि-दोनों शाखाओं में प्राणभाव आरोपण पूर्वक उद्गीथ को ही उपास्य बतलाया गया है, दोनों में—विधि आदि में भी एक्य है। शत्रु पराभव रूप फल संबंध में भी प्रथकता नहीं है। प्राणभाव से आरोपित उपास्य उद्गीथ में पृथकता न होने से विद्या में पृथकता नहीं है। विदि धातु का अर्थ भी दोनों जगह सामान्यतः वेदन ही है तथा दोनों जगह "उद्गीथ" नाम भी एकसा है। इस सिद्धान्त पर आपत्ति पूर्वक परिहार करते हैं— "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्"

यदुक्तं विद्यैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदात्, रूपान्यथात्वं शब्दादेव हि प्रतीयते। वाजसनेयकेहि—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्युगानस्य कर्त्तरि प्राणदृष्ट्याऽसुरपराभवमुक्त्वा "य एवं वेद" इतिकर्त्तयेव प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते। छांदोग्ये—"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्गानस्य कर्म-

ankurnagpal108@gmail.com

व्युद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुर पराभवमुक्त्वा—"य एवं विदि पापं कामयते" इत्येवं शब्दात् कर्मण्येवोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। अथ एकत्र कर्त्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम्। रूपान्यथात्वेच विधेय भेदे सति केवल चोदनाद्यविशेषोऽकिंचित्कर इति विद्याभेद इतिचेत्—तन्न अविशे—षात्—अविशेषेण हि उभयत्र उद्गीथ साधनकपरपराभव उपक्रमे प्रतीयते। वाजसनेयके—"ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथे-नात्याम" इत्युपक्रमे श्रूयते, छांदोग्येऽपि—"तद्ध देवा उद्गीथ माजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम." इति। अथ उपक्रमाविरोधाय—"तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्यध्यस्त प्राणभाव उद्गीथ उद्गान कर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादिवत् सौकर्यातिशयविवक्षया कर्त्तृत्वेनोच्यते, अन्यथो पक्रमगत उद्गीथ शब्दः कर्त्तरिलाक्षणिकः स्यात् अतोविद्यैक्यम्।

विद्या की जो एकता बतलाते हो, वह सिद्ध नहीं होती क्योंकि-दोनों स्वरूपगत में पार्थक्य है। स्वरूपगत पृथकता शब्दों से ही प्रतीत होती है। जैसे कि वाजसनेयी में—"अथ हेममासन्यं" इत्यादि,मे उद्गाता कर्त्ता में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर—"यं एवंवेद" वाक्य कहा, इस वाक्य के एवं शब्द से प्राण दृष्टि से उद्गाता की ही प्रतीति होती है। छांदोग्य में—"अथ ह य एवायं" इत्यादि में उद्गाता के कर्मभूत उद्गीथ में प्राणदृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "य एवं विदि-पापं" इत्यादि में—एवं शब्द से कर्मभूत उद्गीथ में ही प्राण दृष्टि का निर्देश है। इस प्रकार एक जगह कर्त्ता में तथा दूसरी जगह कर्म में, प्राण दृष्टि का निर्देश है। जिससे विद्या का स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाता है। स्वरूप भेद और विधेय भेद होने से तथा केवल विधि आदि के अविशेष और अकिंचित्कर होने से—विद्या भेद निश्चित होता है [विवाद] उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि—दोनों में कोई विशेष बात नहीं है, जिसके आधार पर भेद माना जा सके, दोनों ही जगह प्रारंभ में, उद्गीथ साधना का, शत्रु पराभवरूप फल बतलाया गया।

ankurnagpal108@gmail.com

बृहदारण्यक के उपक्रम में जैसे—"ते ह देवा ऊचुः" इत्यादि तथा-छांयोग्य में-"तद्हदेवा" इत्यादि कहा गया तथा उपक्रम के अविरोध के लिए-"तेभ्य एष प्राण उगद्ायत्" इत्यादि में प्राणभाव का अभ्यास दिखलाया गया उद्गीथ का उद्गान ही उसका कर्म होता है जैसे कि पके हुए भात को सुविधावश चावल कह देते हैं, वैसे ही-कहने की सरलता से, उद्गीथ का कर्तृत्व बतला दिया गया। उपक्रम में उल्लेख्य उद्गीथ शब्द कर्त्ता में लाक्षणिक है। इसलिए विद्या एक ही है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७॥

नवेति पक्षं व्यावर्त्तयति, नचैतदस्ति, तद्विद्यैक्यमिति कुतः ? प्रकरण भेदात् "ओमित्येतदक्षरं उद्गीथमुपासीत्" इति प्रकृतं उद्गीथावयवभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य "एतस्य वाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति" "देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य—"अथ ह य एवायं मुख्यः—प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्गीथावयवभूतप्रणव-विषयमुपासनं छंदोगा अधीयते, वाजिनस्तु तादृशप्राचीन प्रकरणा-भावात् हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" इति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्यादिकृत्स्नोद्गीथ-विषयमधीयते अतः प्रकरणभेदेन विधेय भेदः, विधेयभेदे च रूपभेद इति न विद्यैक्यम्।

नवा शब्द उक्त पक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या में भेद नहीं है। विद्या एक है, क्योंकि दोनों में प्रकरण का भेद है। "ॐ इस उद्गीथाक्षर की उपासना करो" इत्यादि में प्रस्तावित उद्गीथ के अंग विशेष प्रणव का उल्लेख करके "इस अक्षर का उपव्याख्यान होता है" देवता और असुर जहाँ संग्राम करते थे" इत्यादि से प्रारंभ करके "इसके बाद जो मुख्य प्राण हैं, उसकी उद्गीथ रूप से उपासना की।" इत्यादि में उगद्गीथ

ankurnagpal108@gmail.com

की अवयवरूप प्रणवोपासना छांदोग्य में बतलाई गई है। वाजसनेयी में उक्त प्रकार के प्राचीन प्रकरण का अभाव है इसलिए "हम लोग उद्गीथ असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि में समस्त उद्गीथोपासना का ही उपक्रम करके मुख्य प्राण के लिए कहा गया कि—"तुम हमारे लिए उद्गान करो" इत्यादि, इससे निश्चित होता है कि—इसमें संपूर्ण उद्गीथोपासना का ही निर्देश है प्रकरण में भेद होने से, विषय में भी भेद होता है तथा विषय भेद से स्वरूप भेद होता है। इसलिए विभिन्न प्रकरणों की उद्गीथ विद्या एक नहीं है।

किं च—"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इति पूर्वप्रकृत उदगीथावयवभूतः प्रणव एवाध्यस्त प्राणभावः छंदोगानामुपास्यः। वाजिनांतु कृत्स्नस्योद्गीथस्यकर्त्तोद्गाथा प्राणदृष्ट्योपास्य इति। "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत" इत्युद्गातरि प्राणाध्यासं निर्दिश्य "य एवं वेद" इत्युदगातैवाध्यस्त प्राणभाव उपास्यो विधीयते। अतश्च रूपभेदः। न चोद्गातर्युपास्ये विहितं "उद्गीथेनात्ययाम" इत्याख्यायिकोपक्रमविरोधः शंकनीयः, उद्गातुरुपासने उद्गीत-स्योद्गानकर्मभूतस्यावश्यापेक्षितत्वात्तस्यापि परपरिभवाख्यं फलं प्रति हेतुत्वात्। अतोरूपभेदात् विद्याभेद इति चोदनाद्यविशेषेऽपि न विद्यैक्यम्। परोवरीयस्त्वादिवत्—यथैकस्यामपि शाखायामु-द्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टि विधानसाम्येऽपि हिरण्मय-पुरुषदृष्टिविधानात् परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्टदृष्टिविधान-मर्थान्तरभूतम्।

तथा—"इस मुख्य प्राण की उद्गीथ रूप से उपासना की" इत्यादि में, पूर्ण प्रस्तावित उद्गीथांश प्रणव में प्राणात्मभाव का आरोप किया गया है। वही छांदोग्य का उपास्य है। वृहदारण्यक में—संपूर्ण उद्गीथ का कर्त्ता उद्गाता ही प्राण रूप से उपास्य माना गया है। "इसके बाद निकटवर्ती मुखस्थ प्राण से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान

ankurnagpal108@gmail.com

करो, उसने तथास्तु कहकर उनके लिए उद्गान किया" इत्यादि से, उद्गाता कर्त्ता में ही प्राण भाव का आरोप करके "जो इस प्रकार जानते हैं इत्यादि में-आरोपित प्राणस्वरूप उद्गाता को ही उपास्य बतलाया गया है। इस प्रकार भी उद्गाता में स्वरूपगत भेद है। उद्गाता के उपास्य रूप से विहित होने से, उसका कर्मभूत उद्गीथ भी अपेक्षित हो जाता है, जिससे शत्रु पराभवरूप फलसिद्ध में, उसकी भी कारणता हो जाती है। स्वरूप भेद से जब विद्या भेद हो जाता है तब विधि आदि की एकता होते हुए भी, विद्या का अभेद नहीं हो सकता—जैसे कि—छांदोग्य की एक ही शाखा में उद्गीथ प्रकरण के मध्य में उद्गीथांश रूप प्रणव के परमात्म दृष्टि से साम्य होते हुए भी, हिरण्मय पुरुष परक दृष्टि का विधान होने से, परोवरीय आदि गुणों से विशिष्ट दृष्टि का विधान, भिन्नता का द्योतक है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८॥

उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यात् तत्-विद्यैक्यमुक्तं चेत्-तत् संज्ञैक्यंविधेयभेदेऽप्यस्त्येव, यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुंडपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथाचोद्गीथविद्येति छांदोग्ये प्रथम प्रपाठकोदितासुबह्वीषु विद्यासु।

"उद्गीथ विद्या" ऐसी नाम की एकता है, ऐसा कथन भी संगत नहीं है, प्रायः विधेय के भेद में भी एक नाम होता है जैसे कि—नित्य अग्निहोत्र और कुण्डपायी अग्निहोत्र, दोनों ही अग्निहोत्र नाम वाले हैं। छांदोग्य के प्रथम प्रपाठक की अनेक विद्यायें, उद्गीथ नामवली हैं।

व्याप्तेश्च समंजसम् ३।३।९॥

छांदोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरांस्वपिविद्यासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य "तदह देवा उद्गीथमाजह्रुः" इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समंजसम्। अवयवे च समुदाय शब्दः पटोदग्धः" इत्यादिषु दृश्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अतश्चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोद्गीथ शब्द निर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः । वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्गीथ विषय उद्गीथ शब्द इति कृत्स्नोद्गीथस्य कर्त्तोद्गाता प्राण दृष्ट्योपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम् ।

छाँदोग्य के प्रथम प्रपाठक में, प्रथमवर्णित–उद्गीथावयव प्रणव की उपासना, परवर्त्ती विद्याओं में भी अनुगत है इसलिए मध्यवर्त्ती—"देवताओं ने उस उद्गीथ का आहरण कर लिया" इत्यादि में उल्लेख्य "उद्गीथ" शब्द का प्रणवार्थ मानना ही संगत होगा। "जला-कपड़ा" इत्यादि उदाहरणों में जैसे—समुदाय वाचक शब्द का उसके अवयव में भी प्रयोग किया जाता है [अर्थात् कपड़े का ढेर जले या एक जले प्रयोग "पटो दग्धः" ही किया जाता है] वैसे ही—उद्गीथ के अंग प्रणव का भी, उद्गीथ शब्द से ही निर्देश किया गया है। उसे ही छांदोग्य में—प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। वृहदारण्यक में तो–संपूर्ण उद्गीथ का बोधक उद्गीथ शब्द है, संपूर्ण उद्गीथ के कर्त्ता उद्गाता को ही प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। इससे विद्या का भेद ही सिद्ध होता है।

सर्वाभेदाधिकरणः—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।१०॥

छांदोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या आम्नायते "योह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति, प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" इत्यादि तत्र ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाक्चक्षुः श्रोत्रमनः सुवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्त्वायतनत्वाख्यान् गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्थितित्वेन तदायत्ततत्तत्कार्यत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादि संबंधितया श्रुतान्वशिष्ठत्वादीन् गुणांश्च प्राणसंबंधितया प्रतिपादयति । एवं छांदोग्यवाजसनेयकयोर्ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणको

ankurnagpal108@gmail.com

वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते। कौषीतिकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः, न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादि संबंधिनो गुणः प्राण संबंधितया प्रतिपादिताः। तत्र संशयः, किमत्र विद्याभिद्यते, उतनेति? किं युक्तम्? भिद्यत इति। कुतः? रूपभेदात्। यद्यप्युभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्य श्रैष्ठ्यगुणक उपास्यः, तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणैर्युक्तः प्राणउपास्यः प्रतीयते, इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः।

छांदोग्य और बृहदारण्यक दोनों में प्राणविद्या का उपदेश है "जो लोग ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानते हैं, वे स्वयं ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाते हैं, प्राण ही ज्येष्ठ है" इत्यादि। इसमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण संपन्न प्राण की उपास्यता का प्रतिपादन करके-वाक्-चक्षु-श्रोत्र और मन को क्रम से वसिष्ठता, प्रतिष्ठता, समपद रूपता और आयतनता गुणों वाला बतलाया गया है। इसके बाद-वाक् आदि इंद्रियों और देह में स्थित विशेष कार्यों से अधीन प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके–वागादि संबंधी वसिष्ठता आदि गुणों का भी, प्राण संबंधी रूप से ही प्रतिपादन किया गया है। जैसी छांदोग्य बृहदारण्य में ज्येष्ठ श्रेष्ठ–वसिष्ठ आदि गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, वैसी ही कौषीतकि प्राण विद्या में भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, उसमें प्राण संबंधी वागादि इंद्रिय संपर्कित वसिष्ठता आदि गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है। इस पर संशय होता है कि उक्त विद्या एक है या भिन्न? कह सकते हैं कि–भिन्न, क्योंकि–रूप का स्पष्ट भेद है। यद्यपि दोनों जगह ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण वाले प्राण को ही उपास्य कहा गया है, पर एक जगह वसिष्ठता आदि गुणों से युक्त प्राण की उपास्यता का उपदेश है, दूसरी जगह, उनगुणों से हीन प्राण उपास्य है। इस प्रकार रूप में भेद है। अतः विद्या भिन्न है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वाभेदादन्यत्रेमे—नात्रविद्या भेदः, अन्यत्र कौषीतकिनां प्राण विद्यायामपि इमे–वसिष्ठत्वादयो

ankurnagpal108@gmail.com

गुणा उपास्या. संति कुतः ? सर्वाभेदात्—प्रतिज्ञात प्राण ज्येष्ठ्य-श्रेष्ठयोपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात् । तथाहि–छांदोग्यवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम् "एताहवै देवता अहं श्रेयसे व्यूदिरे "अहंश्रेयसे विवदमानाः" इति चोपक्रम्य वागाद्येकैको-पक्रमणे अन्येषां स प्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थिति तत्तत्कार्यं चाविकलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणं सर्वेषां विशरणमकार्य-करत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां प्राणस्य ज्येष्ठ्यमुपपादितम् । एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य प्राणाधीनत्वं—"अथ हैनंवागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वद् वसिष्ठोऽसि" इत्यादिना वागादिभिरनूद्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–विद्या का भेद नहीं है, कौषतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों का उपास्य रूप से उल्लेख है। प्राण के ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुणों के उपपादन से ही, उन सब की अभिन्नता प्रतीत होती है। छांदोग्य और वृहदारण्यकीय प्राण विद्या में–"वे देवता (इंद्रियाँ) अपनी-अपनी प्रधानता बतलाने के लिए विवाद करने लगे। "अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के लिए विवाद करते-करते" इत्यादि से प्रारंभ करके–वागादि आदि एक-एक इन्द्रियों का बहिर्गमन तथा प्राणयुक्त इंद्रियों का शरीर में अवस्थान एवं कार्यकारिता का प्रतिपादन किया गया और अंत में–प्राणों के उत्क्रमण से समस्त इन्द्रियों की शिथिलता और अकर्मण्यता का प्रतिपादन करके, प्राण की अधीनता में सबकी अवस्थिति और कार्यकारिता के कारण प्राण की ज्येष्ठता आदि का समर्थन किया गया है। इसी प्रकार वागादि इन्द्रियों की प्राणाधीनता का भी समर्थन करते हुए "वाक् ने कहा जो मेरी वसिष्ठता है वही तुम्हारी भी वसिष्ठता है।" इत्यादि में वागादि से अनूदित किया गया है।

कौषीतकिनां प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्य प्रति-पादनाय वागादिषु वसिष्ठात्वादयः प्रतिपादिताः । "अथ हेमा देवताः प्रजापतिपितरमेत्याब्रुवन् को वै न श्रेष्ठः" इत्यादिना

ankurnagpal108@gmail.com

वागादि गतागुणा वागादयश्च देहश्च प्राणाधीना इति प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिभिः स्वस्वगुणा वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तुनक्तम् । नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादि गुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादि वसिष्ठत्वादि गुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वात् । तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादि गुणयोगित्वं, यद्वागादिवसिष्ठत्वादि हेतुत्वम । अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगात् प्राणो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्या भेदः ।

कौषीतकि प्राण विद्या में भी, प्राण की ज्येष्ठता श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए, वागादि की वशिष्ठता आदि का प्रतिपादन किया गया है। "इन देवताओं ने प्रजापति के पास जाकर कहा—हममें कौन श्रेष्ठ है ?" इत्यादि में वाक् आदि के गुण, वागादि इन्द्रियों और शरीर इत्यादि सबको प्राणाधीन बतलाकर-प्राण की ज्येष्ठता का समर्थन किया गया है। वागादि की एक मात्र गुणों के कारण ही प्राणाधीनता नहीं बतलाई गई अपितु उनको स्वरूपतः भी अभिन्न कहा गया है, क्योंकि जब एक मात्र प्राण ही, इन्द्रियों की वसिष्ठता आदि का कारण है, तब वसिष्ठता आदि गुणों से संपन्न इन्द्रियों की कार्यकारिता स्वतः ही प्राणाधीन सिद्ध होती है। वस्तुतः प्राण की जो, वागादि इन्द्रियगत वसिष्ठता आदि गुण संपादकता है, वह उसकी अपनी ही, वसिष्ठता आदि गुण योगिता है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि-कौषीतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों से संबंद्ध प्राण की ज्येष्ठता बतलाई गई है। इस प्रकार विद्या में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है।

४ आनंदाद्याधिकरणः—

प्राणविद्यांगविषयमन्यदपि निरूपणमनंतरमेव करिष्यते । यथा प्राणस्य वसिष्ठत्वाद्यनुसंधानेन विना ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसंधानामुपपत्तेरनुक्तानामपि वसिष्ठत्वादीनां कौषीतकि प्राणविद्यायां प्राप्तिः तथा ब्रह्मस्वरूपानुसंधानं यैर्गुणैर्विनानोपपद्यते, ते ब्रह्म-विद्यासु सर्वास्वप्यनुसंधेया इत्ययमर्थ प्रतिपाद्यते ।

ankurnagpal108@gmail.com

प्राग विद्या के अन्य अंगों का भी प्रतिपादन करना होगा, जैसे कि प्राण की वसिष्ठता आदि के अनुसंधान के बिना ज्येष्ठता श्रेष्ठता आदि की प्रतीति नहीं होती इस बात को बतलाये बिना ही, वसिष्ठता आदि गुणों का, कौषीतकि प्राणविद्या में जो उल्लेख है तथा–बिना समस्त गुणों की जानकारी के ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान संभव नहीं है, ब्रह्म विद्याओं में उन गुणों का अनुसंधान आवश्यक है। इत्यादि बातों का प्रतिपादन करते हैं।

आनंदादयः प्रधानस्य ।३।३।११।।

अत्रब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविद्यासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्यते । अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात् प्रकरण श्रुतानामेवोपसंहार इति ।

ब्रह्म के स्वरूपगत गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार है या नहीं इस पर विचार करते हैं। भिन्न प्रकरणों में कहे गये गुणों के उपसंहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए ज्ञात होता है कि–प्रस्तुत प्रकरण में कहे गए गुणों का स्वतः में ही उपसंहार है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः–आनंदादयः प्रधानस्य, अभेदादिति वर्त्तते प्रधानस्यगुणिनोब्रह्मणः सर्वेषूपासनेष्वभेदात् गुण्यपृथग्भावाद्गुणानां सर्वत्रानंदादयस्तद्गुणा उपसंहर्त्तव्या ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–पूर्व सूत्र से "अभेदात्" पद की इस सूत्र में भी अनुवृत्ति है, जिससे अर्थ होता है कि–आनंदादि प्रधान गुणों वाले ब्रह्म का सभी उपासनाओं से अभेद संबंध होने से तथा–गुण और गुणी की अपृथक्ता होने से, आनंदादि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए।

एवं तर्हि–गुण्यपृथक्भावादेवानंदादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि "तस्य प्रियमेवशिरः" इत्यादौ ब्रह्मगुणत्वेन श्रुताः सर्वत प्रसज्येरन्-नेत्याह—

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) ऐसा मानने से तो–गुणी से अभिन्न आनंदादि की तरह आनंद के अंग प्रियशिर आदि जो कि–"तस्यप्रियमेवशिर:" इत्यादि में ब्रह्म के गुण रूप ही कहे गए हैं, उनका भी सब जगह उपसंहार करना होगा इसका निराकरण करते हैं :—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तरुपचयापचयौहि भेदे ।३।३।१२॥

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्तावुच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्ति:, तेषामब्रह्मगुणत्वात्, ब्रह्मण: पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम् । अन्यथा शिर: पक्षपुच्छाद्यवयव भेदेसति ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम् । तथाच सति–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विरुध्यते ।

ब्रह्म के स्वरूप भूत गुणों की गणना करने में, प्रियशिरत्व आदि गुणों की गणना नहीं हो सकती, क्योकि–वे ब्रह्म के गुण नहीं हैं अपितु वे प्रियशिरता आदि, ब्रह्म के अवतार रूप के निरूपण करने वाले अवान्तर गुण मात्र हैं । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शिर–पक्ष–पुच्छ आदि अवयव भेद, ब्रह्म के उपचय अपचय के परिचायक देहगत विकार हो जावेंगे । जो कि–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप के विरुद्ध बात होगी ।

नन्वेवमेव ब्रह्मसंबंधिनामेवैश्वर्यगांभीर्यौदार्यकारुण्यादीनां गुणानामनंतानां गुण्यपृथक् स्थितत्वमात्रेण तत्राश्रुतानामप्युपसंहारे सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्, आनंत्यादुपसंहाराशक्तिश्च । तत्राह—

इस प्रकार तो ब्रह्म संबंधी, ऐश्वर्य–गांभीर्य–औदार्य–कारुण्य आदि अनंतगुणों की, गुणी से अपृथक्ता होने से, जहाँ गुणों का कथन नहीं है, वहाँ भी समस्त गुणों की उपस्थिति अनिवार्य हो जायेगी? ब्रह्म के अनंत गुणों का उपसंहार संभव भी नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

इतरेत्वर्थ सामान्यात् ।३।३।१३॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, इतरेतु आनंदादय:, अर्थसामान्यात् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते । ये त्वर्थसमाना:, अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थ

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतीत्यनुबंधिमः, तेऽर्थस्वरूपवत् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते। ते च गुणाः सत्यज्ञानानंदामलत्वानंतानि। "यतो वा इमानि" इत्यादिना जगत्-कारणतयोपलक्षितं ब्रह्म "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" "आनंदो ब्रह्म" इत्यानंदादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते अत उपास्य ब्रह्म स्वरूपावगमाय सर्वासु विद्यास्वानंदादयोऽनुवर्त्तन्ते। ये तु निरूपित स्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयोगुणाः प्रतिपन्नाः तेषां गुण्यपृथक् स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबंधित्वाभावात्-ये यत्र श्रुताः ते तत्रोपसंहार्याः, इति निरवद्यम्।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। आनंद आदि सामान्य अर्थ बोधक होने से सभी विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं, जो कि-गुणी के समानार्थक गुण हैं, अर्थात् जो अर्थ स्वरूप के निरूपक होने से एकमात्र अर्थ प्रतीति के कारण ही गुण वाच्य हैं, वे जिस गुणी की अर्थ प्रतीति कराते हैं, उस गुणी की तरह ही, समस्त विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं। वे गुण-सत्य-ज्ञान-आनंद अनंतता आदि ही हैं। "यतो वा इमानि" इत्यादि से, जगत् कारणरूप से उपलक्षित ब्रह्म ही "सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म" आनंदोब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में आनंद आदि रूपवाले निरूपण किये गए हैं। उपास्य ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति के लिए ही सभी विद्याओं में बार-बार अनुवर्त्तन कियागया है। उक्त प्रकार से निरूपित ब्रह्म के कारुण्य आदि प्रसिद्ध गुणों की गुणी से अपृथक् स्थिति होते हुए भी, उन गुणों से एकमात्र ब्रह्म की ही प्रतीति होती हो, अन्य की नहीं, ऐसा कोई अनुबंधन होने के कारण वे कारुण्य आदि गुण जहाँ कहे गए हैं, उनका वहीं उपसंहार होगा, अन्यत्र नहीं।

यत्तूपचयापचयप्रसंगात् प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुष विधत्वरूपणमात्रार्थाः न तु ब्रह्म गुणाः। तर्हि अतथारूपस्यब्रह्मण-स्तथात्वेन रूपणं किमर्थं, क्रियते अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित् प्रयोजनेन भवितव्यम्, यथा-"आत्मानं रथिनंविद्धि" इत्यादिनोपासकस्य तदुपकरणानां च रथिरथादित्वरूपणम्

ankurnagpal108@gmail.com

उपासनोपकरणरूप शरीरेन्द्रियादिवशीकरणार्थं क्रियत इत्युक्तम्। नवेह तथाविधम् किंचित्प्रयोजनं दृश्यते। इति बलात् ब्रह्मगुणत्वं प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम्। तत्राह–

जो यह कहा कि– ब्रह्म के अवतार की ही पक्षिरूप से कल्पना की गई है उसी के लिए प्रियशिरत्व आदि कल्पित है, वस्तुतः वे परमात्मा के गुण नहीं हैं। यदि ऐसा ही है तो, ब्रह्म के पक्षिरूप कल्पना का प्रयोजन क्या होगा? असंभव वस्तु की संभवकल्पना का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। जैसे कि–"आत्मा को रथी जानो" इत्यादि कल्पना में उपासक जीव और उसकी साधना के उपकरण इन्द्रिय आदि का, रथीरथ, आदि रूपों से जो निरूपण किया गया है, वह उपासना के साधनभूत शरीरेन्द्रियादि के वशीकरण के लिए है, वही उसका प्रयोजन है। इस प्रकार का कोई भी प्रयोजन, पक्षिरूप की कल्पना में तो दीखता नहीं, इसलिए अगत्या प्रिय शिरता आदि को परमात्मा का ही गुण मानना पड़ेगा। इसका उत्तर देते हैं।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्।३।३।१४॥

प्रयोजनान्तराभावात् आध्यानाय अयं रूपणोपदेशः क्रियते। आध्यानं अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यत्रोपदिष्टाध्यानरूपवेदन सिद्धये हि आनंदमयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमानंदमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिराः पक्षादित्वेन रूपयित्वोपदिश्यते। यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरः पक्षादिभिः "तस्येदमेवशिरः" इत्यादिना बुद्धावारोप्यते, यथा च प्राणमय मनोमयविज्ञानमयाः तस्य प्राण एव शिरः" इत्यादिना प्राणाद्यवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते, एवमेभ्योऽर्थान्तरभूतस्तदंतरात्मा आनंदमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृतित्वेन रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते। एवमानंदमयोपलक्षणत्वात् प्रियशिरस्त्वादीनां न सर्वदाऽऽनंदमय प्रतीतावनुवर्त्तन्ते।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त कल्पना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, केवल आध्यान के लिए ही उक्त कल्पना की गई है आध्यान अर्थात् अनुचिंतन, उपासना को कहते हैं। "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है" इसवाक्य में आध्यान रूप वेदन का उपदेश दिया गया है, उसकी सिद्धि के लिए ही, आनंदमय ब्रह्म का विवेचन, प्रियमोद आदि रूपों से विभक्त करके, शिर पंख आदि रूपों से किया गया है जैसे कि–पुरुष पदवाच्य, अन्नमय स्थूल देह को "यही उसका शिर है" इत्यादि से–शिरपक्षादियुक्त विशिष्ट रूप, से बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई है तथा प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इत्यादि को तस्य प्राणमयः शिरः" इत्यादि से प्राण आदि की बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई वैसे ही·अन्नमय आदि से स्वतंत्र, उनके ही अंतरात्मा आनंदमय की, प्रियमोद आदि एक देशीय विशेषताओं की शिर आदि रूपों में आध्यान करने के लिए कल्पना की गई है। आनंदमय के उपलक्षण होने के कारण प्रियशिर आदि, सब जगह आनंदमय की ही प्रतीति कराते हों ऐसा नहीं है, यह ऊपर के विवेचन से निश्चित हो जाता है। वे तो एक मात्र उपासना के लिए ही हैं।

आत्मशब्दाच्च।३।३।१५॥

"अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः', इत्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छासंभवात् प्रियशिरस्त्वादयस्तस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं रूपणमात्रमिति गम्यते।

"इससे भिन्न अन्तस्थ आत्मा आनंदमय है" इत्यादि वाक्य में आनंदमय का आत्मा शब्द से निर्देश किया गया है, आत्मा में शिर-पंख पूंछ आदि संभव नहीं हैं, इसलिए उसके प्रियशिरत्व आदि की कल्पना सुख प्राप्ति के लिए, रूपक मात्र ही प्रतीत होते हैं।

ननु 'अन्योऽन्तर आत्माप्राणमयाः" अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः "इत्यात्मशब्दस्यनात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् "अन्योऽन्तरआत्मा आनंदमयः" इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निश्चीयते? तत्राह—

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा प्राणमय है" इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा मनोमय है" इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द का प्रयोग अनात्म-प्राण, मन आदि के लिए भी किया गया है, फिर इन वाक्यों के परवर्ती "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्मा शब्द को परमात्मा विषयक ही कैसे निश्चिय किया जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१६॥

"अन्योऽन्तरआत्माऽनंदमयः इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत्—यथेरत्र—"आत्मावाइदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजै" इत्यादिष्वात्मशब्देन परमात्मन् एव ग्रहणम् । तद्वत । कुत एतत्? उत्तरात्—"सोऽकामयत्बहुस्यां प्रजायेय "इत्यानंदमयविषयात् उत्तराद्वाक्यात् ।

"इससे भिन्न अन्तरात्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्म शब्द परमात्मावाची ही माना जायगा जैसे कि "सृष्टि से पूर्व एक मात्र आत्मा ही था। उसने इच्छा की कि—लोकों की सृष्टि करूं" इत्यादि अन्य वाक्यों में आत्मा शब्द परमात्मावाची ही है। उक्त आनंदमय विषयक वाक्य के बाद के "उसने कामना की कि अनेक हो कर जन्म लूँ" इत्यादि वाक्य से उस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३।३।१७॥

पूर्वत्र प्राणमयादिष्वनात्मशब्दान्वयदर्शनान्नोतरान्निश्चेतुं शक्यत् इति चेत्—स्यादवधारणात्—स्यादेव निश्चयः, कुतः? अवधारणात् पूर्वत्रापि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति परमात्मन एव बुद्धयाऽवधारितत्वात् अन्नमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णातिदनंतरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये, ततोविज्ञानमये तत आनंदमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्तदन्तराभावादुत्तराच्च "सोऽकामयत्" इति वाक्यात् प्रतिष्ठितेत्युपक्रमेऽप्यपरमात्मनिपरमात्मबुद्धया आत्मशब्दान्वयः, इति निरवद्यम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि–पूर्वोक्त प्राणमय आदि अनात्म शब्दों से संबद्ध आनंदमय को परवर्ती वाक्य से निश्चित नहीं किया जा सकता सो बात नहीं है, अवधारण से निश्चित किया जा सकता है। अन्नमय प्राणमय आदि अवधारण से पूर्व भी "इस आत्मा से आकाश हुआ" इस आत्मा में परमात्मा ही बुद्धि में सरलतापूर्वक समझा जा सके इसलिए अन्नमय से भिन्न प्राणमय को सर्वप्रथम परमात्मा बुद्धि से प्रस्तुत किया गया; उसके बाद प्राणमय से भिन्न मनोमय में और फिर आनंदमय में परमात्म बुद्धि की गई। इसके बाद अन्त में कुछ कथ्य ही नहीं है यही एकमात्र सिद्धान्त है इसलिए "उसने कामना की" इत्यादि वाक्य से-आत्म शब्द का परमात्मा अर्थ निश्चित हो जाने पर उपक्रम वाक्य में भी अपरमात्म (अन्नमय आदि) में परमात्म बुद्धि के लिए आत्म शब्द का संबंध दिखलाया गया है इसलिए उक्त मत निर्दोष है।

५ कार्याख्यानाधिकरणः

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८॥

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्याशेषभूतमिदानीं चिन्त्यते। छांदोग्यवाजसनेयकयोः ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभिधीयंते। छांदोग्ये तावत्-"स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुकोहवासो भवत्यनग्नो भवति" इति। वाजसनेयके –"किं मे वासः? "इति प्राणेनपृष्ट्वा वागादय ऊचुः" आपो वास इति तद् विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते "तस्मादेवं विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति। तत्र संशयः, किं अत्राचमनं विधीयते उत अपां प्राणवासस्त्वानुसंधानमिति? "अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत् "इत्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणात् "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति वेदने विधिप्रत्ययाभावादनग्नता संकीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेश्च भोजनांगस्याचमनस्य

ankurnagpal108@gmail.com

स्मृत्याचार प्राप्तत्वेन विधि प्रत्ययबलात् प्राणविद्यांगमाचमनान्तरं विधीयते ।

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्या के अंगों पर यहाँ विचार करते हैं। छांदोग्य और वृहदारण्यक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण की उपास्यता बतलाकर प्राण के वस्त्र के रूप से, जल का उल्लेख किया गया है। छांदोग्य में जैसे—"उस प्राण ने कहा कोई मेरा वस्त्र होगा? इन्द्रियों ने कहा "जल" होगा। इसीलिए भोजन करने वाले, भोजन के बाद जल द्वारा परिवेष्ठन करते हैं, इसी से प्राण वस्त्र धारण करने वाला अनग्न रहता है "वृहदारण्यक में—"मेरा वस्त्र क्या है?" प्राण द्वारा ऐसा पूछने पर वागादि ने कहा-जल ही वस्त्र है। इसलिए शास्त्रमर्मज्ञ भोजन के पूर्व और पश्चात् आचमन करके अपने प्राण को अनग्न करते हैं।"

इस पर संशय होता है कि-उक्त प्रसंग में आचमन का विधान किया गया है, अथवा जल का, प्राण के वस्त्र रूप से अनुसंधान किया गया है? "भोजन के पूर्व और बाद में आचमन करना चाहिए" इस वाक्य में आचमन में विधि प्रत्यय के उल्लेख से, तथा "इसे अनग्न करते हैं" इत्यादि में उपासनापरक विधिप्रत्यय न होने से, एवं अनग्नता दिखलाने केलिए स्तुतिवाद की उपपत्ति से, और स्मृतिशास्त्र के भोजनांग रूप आचमन के सदाचार उपदेश से निश्चित होता है कि-प्राणविद्या के अंगभूत स्वतंत्र आचमन का ही विधान किया गया है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्तेब्रूमः, आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसंधानमेवेह-अपूर्वम्-अप्राप्तं विधीयते, कार्याख्यानात् -अप्राप्ताख्यानात् अप्राख्यानेशब्दस्यार्थवत्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति —"किं मेवासः" "आपोवासः "अद्भिः परिदधति "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वाक्यापां प्राणवासा दृष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमननूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसंधानं विधीयते इति। अतएव छांदोग्ये —"तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाचादद्भिः—परिदधति" इत्यद्भिः परिधानमेवोक्तम् नाचमनम्।

ankurnagpal108@gmail.com

इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि–प्राण के वस्त्ररूप के आचमनीय जल का विधान किया गया है। इसके पूर्व कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता कहीं भी ऐसा आख्यान अर्थात् शब्दार्थ नहीं मिलता। कथन यह है कि-"मेरा वस्त्र क्या है? 'जल वस्त्र है "जल को धारण करता है "इससे ही अनग्न करता है" इत्यादि उपक्रम और उपसंहार के वाक्यों में, जल में प्राण की वस्त्ररूप प्रतीति होने से ज्ञात होता है कि-स्मृति शास्त्र भी, सदाचार रूप आचमनीय जल का उल्लेख करके उस जल में प्राणवस्त्रता के चिन्तन का विधान करता है। "इसीलिए भोजन करने वाले भोजन के प्रथम और बाद में जल को धारण करते हैं इस छांदोग्य वाक्य में जल को केवल परिधान मात्र कहा गया है आचमन नहीं।

६ समानाधिकरण:–

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१९।।

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शांडिल्यविद्याऽम्नाता–"सत्यं–ब्रह्मेत्युपासीत अथखलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः "इत्यारभ्य "स आत्मानमुपासीत मनोमयप्राण शरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशात्मानं" इति। तथा तस्मिन्नेव वृहदारण्यके पुनरपि शांडिल्यविद्याऽम्नायते" मनोमयोऽयंपुरुषोभाः सत्य तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च" इति। तत्र संशयः किमत्र विद्या भिद्यते उत नेति? संयोगचोदनाख्यानामविशेषेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः।

शुक्लयजुर्वेदीय वृहादरण्यक में अग्निरहस्य के प्रकरण में शांडिल्य विद्या का उपदेश है-"सत्यब्रह्म की उपासना करो, यह पुरुष (जीव) निश्चित ही क्रतुमय है "इत्यादि से प्रारंभ करके" मनोमय प्राणस्वरूप ज्योतिर्मय, सत्यसंकल्प आकाशात्मक उस आत्मा की उपासना करो। "उसी वृहदारण्यक में पुनः शाण्डिल्य विद्या का उपदेश इस प्रकार है"अंतः-करण में ज्योति और सत्यस्वरूप मनोमय पुरुष (जीव) स्थित है जैसे कि-व्रीहि या यव होते हैं, वैसे ही वह है, वही सर्वज्ञ-वशी-सर्वेश्वर-सर्वाधिपति

ankurnagpal108@gmail.com

तथा सारे विश्व का प्रशासक है" इत्यादि, अब संशय होता है कि-यहाँ विद्या में भेद है या नहीं? फल संयोग, विधिवाक्य और नाम विषयक पृथक्ता न होते हुए भी उपास्यगत वशित्व आदि गुणों का भेद होने से, विद्या भिन्न ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः — इति प्राप्त उच्यते-समान एवमिति। यथाऽग्नि-रहस्ये मनोमयप्राणशरीरभारूपसत्यसंकल्पत्वगुणगणः श्रुतः, एवं वृहदारण्यकेऽपि मनोमयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसंकल्पत्वगुणाभेदान्न रूपभेदः, अतो विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-जैसे कि अग्निरहस्य में मनोमय प्राणशरीर भारूप सत्यसंकलपता आदि गुणों का उल्लेख है, वैसे ही वृहदारण्यक में भी मनोमयता आदि तो समान हैं ही, वशित्व आदि गुण, सत्यसंकलपता आदि गुणों की अपेक्षा, समानरूप से अधिक ही हैं। उनमें कोई भेद न होने से रूपभेद नहीं है, इसलिए विद्या एक ही है।

७ संबंधाधिकरणः—

संबंधादेवमन्यत्रापि ।३।३।२०।।

वृहदारण्यके श्रूयते "सत्यं ब्रह्म "इत्युपक्रम्य" तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चाऽयं दक्षिणेऽक्षिन् "इत्युपक्रम्य-आदित्य मंडलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्याहृति शरीरत्वेनोपास्यत्वमुक्त्वा "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" इति द्वे उपनिषदौ-रहस्यनामनी उपासन शेषतयाऽम्नायेते, ते किं यथा श्रुतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनियमेनेति संशये सत्यस्यव्याहृति शरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थानयोः संबंधात् उपास्यैक्येन रूपाभेदात् संयोगाद्यभेदाच्च विद्यैक्यादनियमेनेति प्राप्तम्। तदिमुच्यते—"संबंधादेवमन्यत्रापि" इति यथा मनोमयत्वादि गुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदात् विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः,

ankurnagpal108@gmail.com

एवमन्यत्राक्ष्यादित्यसंबंधिनो ब्रह्मणः सत्यस्यैकत्वेन विद्यैक्यादुभयो-रुभयत्रोपसंहारः ।

वृहदारण्यक में "सत्यंब्रह्म "इत्यादि उपक्रम करके-" जो यह सत्य है वही प्रसिद्ध आदित्य है जो कि आदित्य मंडल और नेत्र में स्थित पुरुष है "इत्यादि में आदित्य मंडल और नेत्रों में, सत्यब्रह्म की व्याहृति को शरीर विशिष्ट रूप से उपास्य बतलाकर-"उसका उपनिषद् में अहः ऐसा अधिदैवत नाम है "उसका उपनिषद में अहम् ऐसा अध्यात्म नाम है" इन दो रहस्यमयी उपनिषदों को, उपर्युक्त उपासना के अंगरूप में वर्णन किया गया है। इस पर संशय होता है कि-उक्त दोनों नामों में जिनका जहाँ उल्लेख है, वहीं वह व्यवहार्य हैं, अथवा उनका कोई नियम नहीं है ? इसलिए दोनों जगह व्यवहार होता है? व्याहृति शरीर विशिष्ट सत्य नामक उपास्य ब्रह्म के साथ दोनों ही जगह संबंध होने से, उपास्य की एकता प्रतीत होती है,विद्या की एकता से दोनों नामों का भी, दोनों जगह प्रयोग संबंध होगा। इस पर "संबंधादेवमन्यत्रापि" सूत्र, पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि-मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट का, एक उपास्य होने से, रूप में अभेद तथा एक विद्या होने से गुणोपसंहार होता है। ऐसे ही भिन्न, भिन्न, नेत्र आदित्य संबंधी ब्रह्म के एक होने से, एक विद्या निश्चित होती है। विद्या एक होने से दोनों नामों का दोनों जगह उपसंहार होगा, यह भी निश्चित है।

सिद्धान्तः- एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा विशेषात् ।३।३।२१।।

न वैतदस्ति—यद्विद्यैक्यादुपसंहारः, इति । कुतः? विशेषात् उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमंडलस्थतया उपास्यत्वम्, इतरत्राक्ष्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसंबंधित्व-भेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः। नैवं शांडिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्र हृदयाधारत्वेनोपास्यत्वात। अतोऽव्यवस्थित इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसी बात नहीं है जैसा कि आप अनुमान कर रहे हैं कि-विद्या की एकता के आधार पर गुणोपसंहार होगा। उपास्य ब्रह्म की स्वरूपगत एकता होते हुए भी स्थान का भेद है, एक जगह आदित्य मंडल में उपास्य की स्थिति बतलाई गई है, दूसरी जगह नेत्रों में। इस प्रकार स्थान भेद से रूप भेद और विद्याभेद है। शांडिल्यविद्या में उपास्यस्थान का भेद नहीं है, दोनों जगह ही हृदयाधार उपासना का उपदेश है। इसलिए जो नाम जहाँ व्यवस्थित हैं, वहीं उसका व्यवहार होगा।

दर्शयति च ।३।३।२२॥

दर्शयति चाक्ष्याधारादित्याधारयोर्गुणानुपसंहारं—"तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्" इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन। स्वतो हि अप्राप्तावति देशेन प्राप्त्यपेक्षा।

"यह अक्षिपुरुष उसी रूप का है, जो पूर्ववर्त्ती आदित्यपुरुष का रूप था" इत्यादि में रूपादि के उल्लेख द्वारा श्रुति भी, नेत्राधार और आदित्याधार में गुणों का अनुपसंहार बतला रही है। जहां स्वतः विषयावगति नहीं होती वहाँ अतिदेश अपेक्षित होता है।

८ संभृत्याधिकरणः—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३॥

तैत्तरीयके नारायणीयानां खिलेषु च "ब्रह्म ज्येष्ठावीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्मभूतानां प्रथमोऽतजज्ञे ते नहिति ब्रह्मणास्पर्धितुं कः" इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां संभृतिः, द्युव्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाम्नातम्। तेषामुपासनविशेषमनारभ्याधीतानां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते---

तैत्तरीय और नारायणीय के खिल कांड में—"ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट वीर्यों के रूप में संचित थे, तथा आदिभूतब्रह्म ही पहिले द्युलोक में व्याप्त थे, ब्रह्म ही सब भूतों में सर्वप्रथम जन्मे थे, इसलिए ब्रह्म के साथ स्पर्धा करने में कौन समर्थ है ?" इस प्रकार उत्कृष्ट वीर्यों का संचय और

ankurnagpal108@gmail.com

द्युलोक व्याप्ति आदि गुणों का उल्लेख है, किसी उपासना विशेष का प्रसंग क्रम नहीं हैं, इसलिए सभी विद्याओं में उक्त गुणों का उपसंहार हो सकता है। इस पर कहते हैं—

सिद्धान्तः—"संभृतिद्युव्याप्त्यपि" इति । संभृतिद्युव्याप्तीति समाहार द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः । संभृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अतएवस्थानभेदात् व्यवस्थाप्यम्, न सर्वत्रोपसंहर्त्तव्यम् । कथमनारभ्याधीतानां स्थानविशेष नियतत्वम्? स्व सामर्थ्यात् इति ब्रूमः। द्युव्याप्तिस्तावद् हृदयाद्यल्पस्थानगोचरासु विद्यासु नोपसंहर्त्तुं शक्या, संभृत्यादयोऽपि तत् सहचारिणः तत्तुल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शांडिल्यदहरादिविद्यास्वल्पस्थानविषयासु "ज्यामान् पृथिव्याः" यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः इत्यादयस्तत्रतत्राशक्योपसंहाराः मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादि विशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्य प्रतिपादनपराः ।

सिद्धान्तः—"संभृतिद्युव्याप्ति" पद में समाहार द्वन्द्व समास होने से एक वचन है। जिससे यह तात्पर्य होता है कि—संभृति आदि गुण, प्रकरण विषय नहीं है, इसलिए स्थान भेद के अनुसार उनकी व्यवस्था करनी होगी, सर्वत्र उपसंहार नहीं किया जा सकता। यदि कहें कि जो सर्वत्र उपसंहृत नहीं हो सकते वे स्थान विशेष में ही कैसे होंगे ? (उत्तर) वे अपनी सामर्थ्य से हो सकते हैं । द्युव्याप्ति हृदय आदि अति सूक्ष्म अलक्ष्य विद्याओं में तो उपसंहृत नहीं किये जा सकते। संभृति आदि भी, उनके सहचारी होने से, अति सूक्ष्म स्थानीय विद्याओं की तरह स्थानों में, उपसंहार्य नहीं हैं। शांडिल्य दहर आदि अल्प स्थानीय विद्याओं में— "पृथ्वी से श्रेष्ठ" बाह्याकाश के परिमाण की तरह हृदयाकाश का भी, परिमाण है" इत्यादि उपदेश यद्यपि अशक्य हैं, फिर भी उनका जो वहाँ उपसंहार बतलाया गया है, वह मनोयमता, निर्दोषता आदि गुणों से विशिष्ट उपास्य की महिमा का, प्रतिपादक है ।

९ पुरुष विद्याधिकरणः—

पुरुष विद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४।।

ankurnagpal108@gmail.com

तैत्तरीयके पुरुषविद्याऽन्नायते "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यऽत्मायजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि वर्हिः" इत्यादिका। छांदोग्येऽपि पुरुषविद्याऽन्नायते–"पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि" इत्यादिका। तत्र संशयः किमत्र विद्याभिद्यते उत न ? इति। पुरुषविद्येति नाम्यैक्यात् पुरुषावयवेषु यज्ञावयव कल्पनसाम्येन रूपैक्यात् तैत्तरीयके फलसंयोगाश्रवणात्" प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति" इति छांदोग्ये श्रुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात् फलसंयोगस्याप्यविशेषात् विद्यैक्यम्।

कौषीतकि में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार दिया गया है–"ज्ञान संपन्न उस यज्ञ पुरुष का आत्मा ही यजमान है, श्रद्धा उनकी पत्नी है, काष्ठ उसका शरीर है कुश उसके लोम हैं"। छांदोग्य में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार है–"प्रसिद्ध पुरुष ही यज्ञ है उसकी चौबीस वर्ष की आयु है।" संशय होता है कि–ये दोनों विद्या एक हैं या भिन्न ? पुरुष विद्या ऐसी नाम एकता से, पुरुष के अंगो में, यज्ञांगों की कल्पना से रूप एकता से, तैत्तरीय में विद्या के फल का उल्लेख न होने से तथा–छांदोग्योक्त–"जो सोलह सौ वर्ष जीवित रहता है" ऐसे फल निर्देश से विशेष भेद न होने से, विद्या–एक ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–उभयत्राम्नातयोविद्ययोः पुरुष विद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव कुतः ? इतरेषामनाम्नानात् एकस्यां शाखायां आम्नातानां गुणानामन्यत्रानाम्नानात्। तथा हि–"यत्साय प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानि" इत्यादयस्तैत्तरीयके आम्नाताः छांदोग्ये सवनत्वेन नाम्नायन्ते, त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं छांदोग्ये सवनत्वेनकल्प्यते छांदोग्ये श्रुतानां आशिशिषादीनां दीक्षादित्व कल्पनं तैत्तरीयके न कृतम् यजमान पत्न्यादि परिकल्पनं चान्यथा। अतो रूपमुभयत्र भिद्यते। तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते तैत्तरीयके हि पूर्वानुवाके–"ब्राह्मणेत्वामहस ओमित्यात्मानं युंजीत" इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फलत्वेन "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युक्त्वा "तस्यैवंविदुषः" इत्यादिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्यैव ब्रह्म विदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं—दोनों जगह कही गई विद्या में नामैक्य होते हुए भी, विद्या भेद है । एक शाखा के उल्लेख गुणों का दूसरी शाखा में उल्लेख न होने से ही उक्त मत स्थिर होता है । "जो सायं प्रातः और मध्याह्न कालिक है वही त्रिसवन है" इत्यादि तैत्तरीय का वचन है, छांदोग्य में सवन रूप का उल्लेख नहीं है, अपितु त्रेधा विभक्त पुरुष की आयु सवन रूप से कल्पित है । छांदोग्य में—भोजनेच्छा आदि की, दीक्षा रूप से कल्पना की गई है, जो कि तैत्तरीय में नहीं हैं; यजमान पत्नी आदि की कल्पना भी भिन्न प्रकार से की गई है, इस प्रकार दोनों के रूप में भेद है । इसी प्रकार फल संयोग में भी भेद है, तैत्तरीय के पूर्वानुवाक में—"ज्योतिर्मय ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से, ऊँकार से आत्मा को संयोजित करो" इत्यादि से ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर फल बतलाते हैं—"ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है" तस्यैवं पुरुषः से ब्रह्म विद्या का उल्लेख करते हैं । इसी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता की यज्ञरूप कल्पना प्रतीत होती है ।

अतो ब्रह्मविद्यांगत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम्, "फलवत् सन्निधावफलं तदंगम्" इति न्यायात तैत्तरीयकाम्नातापुरुषविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति गम्यते । छांदोग्ये त्वायुः प्राप्तिफला पुरुषविद्यत्युक्तम् । अतो रूपसंयोगभेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां गुणानामितरत्रानुपसंहारः ।

इसलिए ब्रह्म विद्या के अंग होने से, ब्रह्म प्राप्ति ही इसका फल है ऐसा समझना चाहिए । "सफल क्रिया के सन्निधान में उक्त फल रहित क्रिया, उस सफल कार्य का ही अंग होती है" इस नियम से ज्ञात होता है कि—तैत्तरीय में पठित पुरुष विद्या ब्रह्म विद्या का ही अंग है । छांदोग्य में दीर्घ जीवन प्राप्ति को ही पुरुष विद्या का फल बतलाया गया है । इस प्रकार स्वरूप और फल संयोग भिन्न होने से, विद्या में भी भेद है; इसलिए एक स्थान के उल्लेख्य गुणों का दूसरी जगह उपसंहार नहीं हो सकता ।

ankurnagpal108@gmail.com

१० वेधाद्यधिकरणः—

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५॥

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे "शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" इत्यादीन्मंत्रानधीयते; सामगाश्च रहस्यब्राह्मणारम्भे—"देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव" इत्याद्यामनंति; काठकास्तैत्तरीयकाश्च "शन्नोमित्रः शंवरुणः" इत्यादिकम्; शाट्यायनिनश्च "श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि" इत्यादिकम्; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते "इंद्रोहवै वृत्रं हत्वा महानभवत्" इत्यादि; कौषितकिनोऽपि महाव्रतब्राह्ममेव "प्रजापतिर्वै संवत्सरः तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतम्" इति; वाजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यब्राह्मं "देवा हवै सत्रं निषेदुः" इत्यादि । तत्र संशयः किमुपनिषदारंभेष्वधीताः "शुक्रं प्रविध्य "शन्नोमित्रः" इत्यादयो मंत्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यांगं उत न ? इति; किं युक्तम्? विद्यांगमिति । कुतः ? सन्निधिसमाम्नानात् विद्यांगत्व प्रतीतेः । यद्यपि "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादिनां मंत्राणां प्रवर्ग्यादेश्च कर्मणः श्रुतिलिंगवाक्यैर्बलवद्भिर्यथायथं कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते । तथापि—"शंन्नोमित्रः" सह नाववतु "इत्यादेर्मंत्रस्यान्यत्र विनियोगाभावात् विद्याधिकाराच्च विद्यांगत्वमवर्णनीयमिति सर्वासु विद्यासु इमे मंत्रा उपसंहर्तव्याः ।

आथर्वणिक उपनिषद के प्रारम्भ में—"शुक्र को वेधकर हृदय को वेधकर" इत्यादि मन्त्र का पाठ है, सामवेदीय रहस्य ब्राह्मण के प्रारम्भ में "हे प्रकाशमान सूर्यदेव, यज्ञ का प्रसव करो' इत्यादि पाठ है। तैत्तरीय काठक में—"सूर्य हमारा मंगल करें, वरुण हमारा कल्याण करें" एवं शाट्यायन शाखा में—"हे हरि ! तुम्हीं नील श्वेत अश्व हो" तथा ऐतरेय महाव्रत ब्राह्मण में "इन्द्रवृत्र को मारकर महान हो गये" और कौषीतकि महाव्रत ब्राह्मण में—"प्रजापति ही संवत्सर हैं", वही उसकी आत्मा है, जिसका नाम महाव्रत है इसी प्रकार वाजसनेय प्रवर्ग्यब्राह्मण

ankurnagpal108@gmail.com

में–"देवता गत्र में निमग्न थे" इत्यादि पाठ मिलता है। अब संशय होता है कि–उपनिषदों के आरम्भ में पढ़े गये "शुक्रं प्रविध्य" शंन्नो मित्र" इत्यादि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-विद्यांग हैं या नहीं? कह सकते हैं कि क्योंकि–विद्याओं के साथ ही इनका पाठ है। यद्यपि "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-श्रुति-लिंग-वाक्य आदि पूर्व बलवान प्रमाणों के अनुसार यज्ञादि कर्मों में ही विनियोग प्रतीत होते हैं, फिर भी "शंन्नो मित्र." सहनाववतु" इत्यादि मंत्रों का कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं पाया जाता विद्याधिकार में ही इनका पाठ है इसलिए इनकी विद्यांगता अनिवार्य हो जाती है, सभी विद्याओं में इनका उपसंहार हो सकता है।

सिद्धान्तः - एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वेदाद्यर्थभेदात्–"शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" ऋतं वदिष्यामि "सत्यं वदिष्यामि" ऋतमवादिषं सत्यमवादिषं 'तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा विद्विषावहै" इत्यादि-भिर्लिंगैरभिचाराध्ययनादिष्वेषां विनियोगावगमान्न विद्यांगत्वम्। एतदुक्तं भवति--यथा--"हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्रसामर्थ्यात् "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनामभिचारादिशेषत्वमवगम्यते, एवमेव "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामधीतमस्तु" इत्यादि मंत्र सामर्थ्यदिव स्वाध्याय शेषत्वम् "शंन्नोमित्रः" इत्यादि मन्त्राणामवगम्यते, अतो-न तेषां विद्यांगत्वम् इति, "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनां प्रवर्ग्यादि-ब्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकीर्त्यत्वारण्येनुवाक्यत्वकृतः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "वेदाद्यर्थ भेदात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। "शुक्रं प्रविध्य" ऋतंवदिष्यामि" सत्यंवदिष्यामि "तेजस्विनामवधीत मस्तु मा विद्विजावहै" इत्यादि स्थलों में कहे गए अभिचार, अध्ययन आदि के लिंग से ज्ञात होता है कि इनका विनियोग अभिचार आदि में ही है ये विद्या के अंग नहीं हो सकते। कथन यह है कि "हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र के सामर्थ्य से ही "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि की अभिचारादि में ही पूर्ति प्रतीत होती है इसी प्रकार "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामवधीत-मस्तु "इत्यादि मन्त्रों के सामर्थ्य से ही स्वाध्याय की पूर्ति "शंन्नो मित्रः"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादि मंत्रों में प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये विद्यांग नहीं हैं। "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदिब्राह्मण का जो उल्लेख किया गया है, उसका उद्देश्य है कि दिन में इनका पाठ नहीं होता तथा जंगल में ही इनका पाठ होता है।

११ हान्याधिकरण:

हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छंदः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्
।३।३।२६॥

छंदोगा आमनंति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानि" इति, आथर्वणिकाश्च--"तदाविद्वान पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इति, शाट्यायनिनस्तु—"तस्यपुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्याम्" इत्यादि। कौषीतकिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयंति अप्रिया दुष्कृतम्" इति। एवं क्वचिद् पुण्यपापयोर्हानिः क्वचिद्प्रियाप्रियेषु तत्प्राप्तिः क्वचिदुभयं च श्रुतम्। तदुभयमेकैकविद्यायां श्रुतमपि सर्वविद्यांगमास्थेयम, सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यम् भावित्वात् प्रहीणविषयत्वाच्चोपासनस्य। तच्चितनं च विधीयमानं सर्वविद्यांगं भवितुमर्हति।

छांदोग्य में पाठ है कि "घोड़े के रोयें की तरह पापों को झाड़कर राहु से छुटे हुए चन्द्र की तरह निष्पाप निष्कर्म कृतार्थ आत्मा में निर्मल शरीर धारण कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँगा" इसी प्रकार आथर्वणिक में भी "वह विद्वान पाप-पुण्य को धोकर निरतिशय ब्रह्म की समता प्राप्त करता है" तथा शाट्यायन में भी ऐसे ही "उसके पुत्र सम्पत्ति पाते हैं, मित्र उसका पुण्य पाते हैं और शत्रु उसका पाप प्राप्त करते हैं

ankurnagpal108@gmail.com

"कौषीतकि में भी जैसे–"तब ज्ञानी पुण्य पाप का परित्याग करते हैं उसके प्रिय को मित्रगण तथा अप्रिय को शत्रुगण प्राप्त करते हैं। "इस प्रकार कहीं पुण्य पाप की हानि, कहीं प्रिय अप्रिय की प्राप्ति, कहीं दोनों की प्राप्ति बतलाई गई है। विद्या विशेष में ही त्याग और ग्रहण का उल्लेख होते हुए भी सभी विद्याओं में प्रकारांतर से उन्हें स्वीकारा गया है, क्योंकि–सभी विद्याओं में निष्ठाप्राप्त पुरुष की ही ब्रह्म प्राप्ति बतलाई गई है, उसका पुण्य पाप से हीन होना अवश्यम्भावी है। विषयों की हीनता ही एक मात्र ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है। उक्त वाक्यों में जो चिन्तन की शैली है. उससे ये सब विद्यांग ही हो सकते हैं।

तत्रेदं विचार्यते–हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्प्येरन्, उपसंह्रियेरन्वा ? किं युक्तम् ? विकल्प्येरन्निति। कुतः ? पृथगाम्नानसामर्थ्यात्। समुच्चये हि सर्वत्रोभयानुसंधानं स्यात्, तच्च कौषीतकि वाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राम्नानमनर्थकमेव स्यात्। अतो अनेकत्राम्नानस्य विकल्प एव प्रयोजनम्। नचाध्येतृभेदेन परिहर्त्तुं शक्यमनेकत्राम्नानम्, अविशेष पुनः श्रवणं हि अध्येतृभेद परिहार्यम्, अत्र तु हानिरेवद्वयोः शाखयोः उपायनमेव चैकस्याम्। न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम सर्वशेषभूतमिदमनुसंधानमित्युक्तत्वात्।

इस पर विचार होता है कि-हानि के चिंतन, उपायन के चिन्तन और दोनों के चिन्तन, इसमें से एक का ही विकल्प होगा अथवा सबका उपसंहार होगा ? कह सकते हैं कि–विकल्प होगा क्योंकि अलग-अलग इनका उल्लेख है। विषय का चिन्तन यदि समुच्चय बोधक होता तो सभी जगह पापमोचन और उसका ग्रहण दोनों का ही उल्लेख होता, ऐसा होने से कौषीतकी वाक्य ही सिद्ध होगा अन्य पाठ विरुद्ध हो जावेंगे। इसलिए भिन्न-भिन्न पाठों के अनुसार विकल्प ही प्रयोजनीय प्रतीत होता है। अध्याता के भेद से इन सबका खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि–अनेक उपनिषदों में भिन्न-भिन्न पाठ हैं। अविशेष एक ही प्रकार की पुनरुक्ति में, अध्येता भेद की बात संगत हो सकती है। यहाँ तो दो शाखाओं में हानि तथा एक शाखा में उपायन का वर्णन है। उक्त

ankurnagpal108@gmail.com

चिन्तन को समस्त विद्याओं का अंग कहा गया है इसलिए इनमें विद्या भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सिद्धान्तः—अत्रेदमुच्यते--हानौतूपायनशब्दाशेषत्वात् इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, हानाविति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ केवले चोपायने श्रूयमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावी, कुतः? उपायनशब्दशेषत्वात्--उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात्। उपायनशब्द वाक्यस्य हि हानिवाक्यशेषत्वेमेवोन्वितम्, विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य। प्रदेशान्तराम्नातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तराम्नात शेषत्वे दृष्टांता उपन्यस्यते--कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवदिति। कालापिनः "कुशा वानस्पत्याः "इत्यामनति। शाट्यायिनां तु "औदुम्बर्यः कुशाः" इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्वेनावगताः कुशाः औदुम्बर्य इति विशिषत्तद्वाक्य शेषतामापद्यते। तथा "देवासुराणांछंदोभिः इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसंगे" देवच्छंदासि पूर्वम् "इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्य शेषतां गच्छति। तथा "हिरण्येन षोडशिनः स्योत्रमुपाकरोति" इत्यविशेषेण प्राप्ते "समया विषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोमुपाकरोति" इति विशेष विषयं वाक्यं तद्वाक्यशेषतां भजते। तथा "ऋत्विज उपगायन्ति" इत्यविशेष प्राप्तस्य "नाध्वर्युरुपगायेत्" इति वाक्यमनध्वर्यु विषयतामवगयत्तद्वाक्यशेषत्वमृच्छति, एवं सामान्येनावगतमर्थं विशेषेव्यवस्थापयितुं क्षमस्य वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपच्छद्भिस्त- योरर्थयोर्विकल्पा समाश्रयितव्यः, सच संभवंत्यां गतौन युज्यते, तदुक्तं पूर्वस्मिन् कांडे "अपितु वाक्य शेषस्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" इति। तदेवं केवलहानोपायनवाक्ययोरे- कवाक्यत्वात् केवलस्यहानस्य, केवलस्यचोपायनस्याभावाद् विकल्पो

ankurnagpal108@gmail.com

नोपपद्यते। कौषतकीनां उभयाम्नानमविशेष पुनः श्रवणत्वेन प्रतिपत्तृभेदादविरुद्धम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "हानौतूपायन" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है। हानौ पद तो केवल उदाहरण की प्रस्तुति का बोधक है। केवल हानि या केवल उपायन के उल्लेख से ही दोनों का परस्पर समुच्चय अवश्यम्भावी हो जाता है। हानिवाक्य के शेष होने पर, उपायन शब्द की स्वतः ही उपस्थिति हो जाती है। उपायन वाक्य की हानिवाक्य शेषता स्वाभाविक ही है, पुण्य-पापहीन महात्मा के प्रवेश स्थान के वाची उपायन वाक्य की स्वतः प्रतीति हो जाती है (अर्थात् जब पाप पुण्य से छुटकारा मिल गया तब ब्रह्म ही एक मात्र उपायन (प्राप्ति) स्थल है, यह अवश्यम्भावी है, अतः उपायन वाक्य का उल्लेख हो या न हो, उसकी प्रतीत तो हो ही जायगी)।

एक स्थान में पठित वाक्य, अन्य स्थानीय वाक्य का शेष (अंगभूत) हो सकता है, इसे उपन्यस्त (विस्तृत रूप से) करते हैं। कलाप शाखा में प्रसंग है कि—"कुशवनस्पति है" शाट्यायन का प्रसंग है—"कुश औदुम्बर्य है।" कलाप वाक्य से कुश की वानस्पत्यता मात्र ज्ञात होती है। शाट्य से कुश की औदुम्बर्यता विशेष रूप से प्रतीत होती है इस प्रकार शाट्य वाक्य, कलाप वाक्य का विशेषज्ञ सिद्ध होता है। इसी प्रकार "देवता और छंदों से" इत्यादि वाक्य सामान्यतः देव असुरों के लिए छंदों के प्रयोग का उल्लेख करता है, जब कि—"देवता छंदों से सर्व-प्रथम" वाक्य क्रमविशेष का प्रतिपादन करता है, जिससे वाक्य शेषता प्रतीत होती है। तथा "वह हिरण्य द्वारा षोडशी स्त्रोत का पाठ करता है।" इस सामान्यवर्णन से "सूर्योदय होने पर षोडशी स्तोत्र का पाठ करेगा" इत्यादि विशेष समय बोधक वाक्य, पूरक है। तथा—"ऋत्विज उपगान करते हैं" इस सामान्य वर्णन से 'अध्वर्यु उपगान न करें" इत्यादि से अनध्वर्यु विषयता ज्ञात होती है जिससे इसकी वाक्यशेषता स्वतः सिद्ध हो जाती है। जो इस प्रकार, सामान्यतः अवगत विषय को विशेषार्थ निरूपण करने में समर्थ वाक्य को, सामान्य का शेषभूत (पूरक) नहीं मानते उनकी दृष्टि में तो दोनों वाक्यार्थों में विकल्प हो सकता है,

ankurnagpal108@gmail.com

किंतु संभव उपाय के होते हुए, ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्व मीमांसा में वैसा भी कहा गया है—"वैध (विधि संबंधी) कर्म का विकल्प करना जहाँ उचित नहीं है, वहाँ (विभिन्न स्थानवर्त्ती) सामान्य-विशेषात्मक वाक्यों में, एक वाक्य अन्य का पूरक माना जायगा, अन्यथा विधि की संपूर्णता न हो सकेगी।" इसलिए—केवल हानि और उपायन वाक्यों में एकवाक्यता न होने से केवल हानि या केवल उपायन के अभाव होने से विकल्प नहीं हो सकता। कौषीतकी में दोनों के पाठ का सामान्य रूप से पुनः उल्लेख होने से श्रोताओं के भेद की प्रतीत होती है, जिससे विरुद्धता समाप्त हो जाती है।

१२. साम्परायाधिकरण :—

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये।३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानमुपायनं च सर्वासु विद्यासु चिंतनीयं इत्युक्तम्। तद्हानं किं देहवियोग काले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एव? इति विशये उभयत्रेति युक्तम्, उभयथा श्रुतत्वात्, एवं हि कौषीतकिनः समामनंति-"स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकं गच्छति" इत्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति। इति वाक्ये अध्वनि सुकृतदुष्कृत हानिः प्रतीयते। ताण्डिनस्तु—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसंभवानि" इति। अत्र तु देहवियोग काल इति प्रतीयते (शाट्यायनकेऽपि) "तस्यपुत्रादायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्याम्" इति पुरुषु दायसंक्रांति समकालं सुकृतदुष्कृत संक्रमणं श्रूयमाणं देहवियोगकाल इति गम्यते। अतः सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशो देहवियोगकाले हीयते, शेषस्त्वध्वनि।

ankurnagpal108@gmail.com

सुकृतदुष्कृत के हानोपायन की सभी विद्याओं में चिंतना करनी चाहिए यह बतला दिया गया। अब विचार होता है कि–वह ज्ञान (पुण्य पाप का त्याग) देह त्याग के समय होता है अथवा देह त्याग के वाद परलोक जाते समय) मार्ग में होता है ? विचारने पर निश्चित होता है कि–दोनों ही स्थिति में हो सकता है, श्रुति में दोनों ही प्रकार का वर्णन मिलता है। कौषीतकी का वचन है कि–"वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक जाता है" ऐसा उपक्रम करके "वह विरजा नदी को प्राप्त कर उसे मनन द्वारा ही पार करता है जिससे पाप पुण्य को दूर कर देता है" इत्यादि वचन से ही मार्ग में ही, पाप पुण्य की हानि प्रतीत होती है। ताण्डीय शाखा के–"घोड़े के रोयों की तरह पाप को झाड़कर, राहु के मुख से छुटे हुए चंद्र की तरह, पाप से मुक्त हो जाता है।" इस शरीर का परित्याग कर पाप विमोचन पूर्वक शुद्ध निर्मल मति होकर ब्रह्म लोक प्राप्त करूँगा' इत्यादि वाक्य से, देह वियोग काल में ही हानि प्रतीत होती है। शाट्यायन के" उसके पुत्र धन पाते हैं, मित्र पुण्य पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं, इत्यादि वाक्य से–पुत्रों की दाय प्राप्ति मृत्यु के समय तथा पाप पुण्य हानि मृत्यु के बाद बतलाई गई है, जिससे देह वियोग काल की ही प्रतीति होती है। इन सबसे ज्ञात होता है कि–पाप पुण्य का एक अंश तो मृत्यु के समय ही छुट जाता है, बाकी मार्ग में छुटता है।

इति प्राप्त उच्यते-साम्परायं-इति। सांपरायं-देहादपक्रमण काले एव विदुषः सुकृतदुष्कृते निरवशेषं हीयते। कुतः ? तर्त्तव्याभावात्-विदुषोदेहवियोगात् पश्चात् सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्य भोगाभावात्। विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्ति व्यतिरेकेण हि सुकृतदुष्कृभ्यां भोक्तव्ये सुखदुःखे न विद्येते। तथाहि अन्ये-देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त सुखदुःखोपभोगाभावमधीयते" अशरीरं वा वसंतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति।

उक्त मत पर– 'साम्यंराये' इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। देह के छुटते समय ही महात्मा के पुण्य पाप निःशेष हो जाते हैं। देह त्याग के

ankurnagpal108@gmail.com

बाद पाप पुण्य उस ज्ञानी (भक्त) के लिए तारितव्य (पार करने योग्य) नहीं रहते, क्योंकि–उसके संपूर्ण भोगों की समाप्ति हो जाती है। उपासना के फलस्वरूप होने वाली ब्रह्म प्राप्ति से, पाप पुण्य से होने वाले भोक्तव्य सुख दुःख रहो नहीं जाते। जैसा कि–अन्य स्थलों में, देह वियोग के बाद ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त, सुख दुःख भोग का अभाव, बतलाया गया है– "अशरीरी हो जाने पर प्रिय अप्रिय उसे स्पर्श नहीं करते" उपासक इस शरीर से उठकर परं ज्योति के सकाश से आत्म ज्योति में संपन्न हो जाता है उसके वास्तविक मोक्ष में तभी तक का बिलम्ब रहता है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता" इत्यादि।

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८॥

एवमर्थस्वाभाव्यात् सुकृतदुष्कृत हानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन-श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छंदतः, यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीयः। कौषीतकीवाक्ये-"तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति चरम श्रुतो वाक्यावयवः "एतं देवयानं पंथानमापद्य" इति प्रथम श्रुतावयवात् प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थः।

इस प्रकार श्रुति के अर्थ की पर्यालोचना करने से सुकृतदुष्कृत हानि का समय निर्धारण हो गया। अब श्रुति और वस्तु की वास्तविकता में विरोध न हो, इस धारणा से, पद समूहों का संबंध निरूपण करते हैं। कौषीतकी वाक्य की–"तब पाप पुण्य को छोड़ता है" इस अंतिम विज्ञप्ति को "देवयान मार्ग को प्राप्त कर" इस प्रथम श्रुत वाक्य के अंग से, पहिले ले जाना होगा, तभी सही अन्वय होगा।

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते–इस पर पूर्व पक्षी आपत्ति करते हैं–

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधे ।३।३।२९॥

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोग काले हानिः, शेषस्य च पश्चादिति उभयथा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्-देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमित्यर्थः। अन्यथा हि विरोधः,देह वियोगकाल एव सर्व

ankurnagpal108@gmail.com

कर्मक्षये सूक्ष्म शरीरस्यापि विनाशः स्यात्, तथासति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते । अत उत्क्रांति समये विदुषो निःशेष कर्मक्षयो-नोपपन्नः ।

पुण्य और पाप का एक अंश, देह त्याग के समय नष्ट माना जाय और अविशिष्ट अंश देवयान मार्ग में विनष्ट माना जाय तभी देवयान मार्ग गति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । अन्यथा विरोध होगा, देह त्याग के समय ही समस्त कर्मों का क्षय स्वीकारने से, सूक्ष्म शरीर का विनाश भी स्वीकारना होगा, सूक्ष्म शरीर के विनष्ट हो जाने पर निराधार आत्मा का गमन तो, संभव नहीं है । इससे अनुमान होता है कि–उपासक के, मृत्यु के समय ही समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता ।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर देते हैं–

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०।।

उपपन्न एवोत्क्रांति कालेसर्वकर्मक्षयः, कथम् ? तल्लक्षणा-र्थोपलब्धेः, क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसंबंध लक्षणार्थोप-लब्धेः "परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराडभवति तस्य सर्वेषु कामचारो भवति" "स एकधा भवति त्रिधाभवति" इत्यादिषु देहसंबंधाख्योऽर्थो हि उपलभ्यते । अतः क्षीण कर्मणोऽपि सूक्ष्मशरीर मुक्तस्य देव यानेन गमनमुपपद्यते ।

शरीर छूटने के समय ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसा शास्त्र वाक्यों से ही ज्ञात होता है । क्षीण कर्म हो जाने के बाद भी आविर्भूत स्वरूप मुक्त जीवात्मा के स्वयं अपने तेजीय शरीर के सारे लक्षण विद्यमान रहते हैं ऐसा शास्त्र का मत है– 'वह परं ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में व्यक्त हो जाता है" वह स्वच्छंद हो जाता है "उसकी सभी लोको में स्वच्छंद गति हो जाती हैं" इत्यादि वाक्यों में, देह सम्बंध

ankurnagpal108@gmail.com

का उल्लेख है। क्षीण कर्म हो जाने पर भी सूक्ष्म शरीर का देवयान गमन हो सकता है।

कथं सूक्ष्मशरीरमप्यारंभककर्म विनाशेऽवतिष्ठत इति चेत्? विद्यामाहात्म्यादिति ब्रूमः। विद्या हि स्वयं सूक्ष्म शरीरस्यानारम्भिकापि प्राकृत सुखदुःखोपभोगसाधनस्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषक्षयेऽपि स्वफलभूत ब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय देवयानेन पथैनं गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति। लोकवत्–यथा लोके सस्यादिसमृद्धयर्थमारब्धे तटाकादिके तद् हेतुषु तदिच्छादिषु विनष्टेष्वपि तदेव तटाकादिकमशिथिलं कुर्वन्तस्तत्र पानीयपानादि कुर्वन्ति, तद्वत्।

यदि कहें कि–कर्म ही तो सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति के कारण होते हैं, यदि वे कर्म ही समाप्त हो जावेंगे तो सूक्ष्म शरीर रहेगा कैसे? उपासना की महिमा से ही सूक्ष्म शरीर रहता है। विद्या स्वयं सूक्ष्म शरीर की उत्पादिकता नहीं होती, किन्तु प्राकृत सुख दुःखोपभोग के साधन स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर, ब्रह्म प्राप्तिरूप अपने फल प्रदान की सहायता के लिए, देवयान में जाने वाले उपासक के सूक्ष्म शरीर की रक्षा करती है। जैसे कि–खेती की वृद्धि के उद्देश्य से, जलाशय बनाया जाता है, खेती के समाप्त हो जाने पर भी, भलीभाँति रक्षित वह जलाशय, पथिकों के पेय जल की पूर्ति करता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर होता है।

अथस्यात्–ज्ञानिनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातसमये कर्मणो निरवशेषक्षयात् देहपातादूर्ध्वं सूक्ष्मशरीरमात्रं गत्यर्थमनुवर्त्तते, सुखदुःखानुभवो न विद्यत-इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते, वसिष्ठावान्तरतपः प्रभृतीनां साक्षात्कृत परतत्त्वानां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसंगमः, पुत्रजन्म विपर्यादि निमित्त सुखदुःखद्यनुभवश्च दृश्यते–इति–अतउत्तरं पठति।

ankurnagpal108@gmail.com

शंका–ज्ञानी भक्तों द्वारा परतत्त्व का साक्षात् कर लेने पर देहपात के समय ही समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर, देहपात के बाद गति के लिए केवल सूक्ष्म शरीर मात्र रहता है, सुख दुःख नहीं रहते, आपके इस मत को मान लेने से, गति हो नहीं सकती। वसिष्ठ अपान्तरतप आदि परतत्ववेत्ता महात्माओं का शरीरपात के बाद भी देहान्तर संयोग, पुत्र जन्म,–विपत्ति आदि के निमित्त, सुख दुःख आदि के अनुभवों का वर्णन मिलता है इसका उत्तर देते हैं–

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३१॥

नास्माभिः सर्वेषां ज्ञानिनां देहपात समये सुकृतदुष्कृतयोर्विनाश उक्तः, अपितु येषां ज्ञानिनां देहपातानन्तरमर्चिरादिका गतिः प्राप्ता, तेषां देहपातसमये सुकृतदुष्कृत हानिरुक्ता। वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकानां न देहपातानंतरमर्चिरादिगति प्राप्तिः, प्रारब्धस्याधिकारस्य असमाप्तत्वात्। तेषां कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां यावदाधिकारसमाप्ति तदारम्भकं कर्म न क्षीयते। प्रारब्धस्य हि कर्मणोभोगादेवक्षयः। अत आधिकारिकाणां तदारम्भकं कर्म यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां न देहपातादनन्तरमर्चिरादिगति प्राप्तिः।

उक्त महात्माओं के देहपात के समय पापपुण्य के विनाश का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु जिन ज्ञानियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति बतलाई गई है, उन्हीं के पापपुण्य हानि का उल्लेख किया गया है। वसिष्ठ आदि कर्माधिकारियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं हुई थी क्योंकि-उनके प्रारब्ध कर्म की परम्परा समाप्त नहीं हो पाई थी। उन्हें जो कर्मफल का विशेषाधिकार मिला था, उसके समाप्त होने तक उनके प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हुआ। प्रारब्ध कर्म का क्षय तो भोग से ही समाप्त होता है। प्रायः लोगों के आधिकारिक प्रारब्ध कर्म अपने अधिकार की समाप्ति तक अपना सिलसिला चालू रखते हैं, इसलिए उन लोगों की, देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं होती।

ankurnagpal108@gmail.com

१३—अनियमाधिकरणः—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३२ ॥

उपकोसलादिषु येषूपासनेष्वर्चिरादिगतिः श्रूयते, किं तन्निष्ठानामेव तया ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानामिति संशये। इतरेष्वनाम्नात् ' येचेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" श्रद्धां सत्यमुपासते" इतीतरसकलब्रह्मविद्योपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव।

उपकोसल आदि उपासनाओं में जो अर्चिरादि गति सुनी जाती है वह उसकोपल आदि के उपासकों की ही होती है अथवा उपासक मात्र की होती है इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि—अन्य उपासकों का वर्णन नहीं मिलता, अपितु "जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इनकी उपासना करते हैं "जो श्रद्धा की सत्य रूप से उपासना करते हैं" इत्यादि वाक्यों में उपकोसल आदि विद्योपासकों की ही विशेषता बतलाई गई है, इसलिए इन उपासनाओं में निष्ठ व्यक्तियों की ही अर्चिरादि गति होती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते-अनियमः, इति। सर्वेषां सर्वोपासननिष्ठानां तयैव गंतव्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति। सर्वेषां तयैव हि गमने सति शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोध, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः। श्रुतिस्तावत् छांदोग्य-वाजसनेयकयोः,पंचाग्निविद्यायामर्चिरादि मार्गेण सर्व ब्रह्मोपासन निष्ठानां गमनमाह—'यएवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति छांदोग्ये "य इत्थं विदुः" इति पंचाग्निविद्या निष्ठान् "ये चेमे" इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासीनांश्चोद्दिश्यार्चिरादिकागतिरुपदिश्यते "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः। तपः शब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात् सत्यतपः शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते। "श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतं "सत्यंत्वेव

ankurnagpal108@gmail.com

"विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपक्रम्य "श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इति। स्मृतिरपि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः" इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमगमित्याह एवं जातीयकाः श्रुतिस्मृतयो वह्वयः संति। एवं सर्वं विद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तैवोपकोसल विद्यादावनूद्यते।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "अनियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सभी विद्याओं के उपासकों की एकमात्र अर्चिरादि गति ही है, एकमात्र उपकोसल आदि के उपासकों की ही उक्त गति होती हो ऐसा कोई नियम नहीं है। सभी की अर्चिरादि गति होती है, यह शास्त्र और अनुमान से निश्चित होता है। शास्त्र जैसे–छांदोग्य और बृहदारण्यक की पंचाग्नि विद्या में अर्चिरादि मार्ग से उपासक मात्र के गमन का उल्लेख है– "जो इस प्रकार इसे जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इसकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि मार्ग से गमन करते हैं" इत्यादि बृहदारण्यक में तथा–"जो इस प्रकार जानते हुए अरण्य में श्रद्धापूर्वक इसकी उपासना करते हैं वे अर्चिरादि गति प्राप्त करते हैं" इत्यादि छांदोग्य का वचन है। "य इत्थंविदुः" से, पंचाग्निविद्यानिष्ठों और "ये चेमे" से श्रद्धालु ब्रह्मोपासकों की अर्चिरादि गति बतलाई गई है। "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि वाक्यों में "सत्य" शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध है। तप और सत्य शब्द एकार्थक हैं। सत्य –तप–श्रद्धा इन तीनों से ब्रह्म ही अभिधेय हैं। श्रद्धापूर्वक ब्रह्मोपासना का "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" श्रद्धात्वेवबिजिज्ञासितव्यः" इत्यादि में भी उल्लेख है। स्मृति में भी इसी प्रकार–"अग्नि, ज्योति, अह, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, षण्मास के देवयान में गगन करने वाले सभी ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं" इत्यादि में सभी ब्रह्मोपासकों का उक्त मार्ग से गमन कहा गया है। ऐसी अनेक श्रुतिस्मृतियाँ हैं। इस प्रकार सभी विद्याओं के उपासकों के लिए इस असाधारण अर्चिरादि गति का उल्लेख है उपकोसल आदि विद्याओं में इसका अनुवाद मात्र मिलता है।

ankurnagpal108@gmail.com

१४ अक्षरध्यधिकरणः—

अक्षरधियांत्ववरोधःसामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्।३।३।३३।।

बृहदारण्यके श्रूयते—"एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदंति अस्थूलमनण्वहृस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायुवनाकाशम-संगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्र-मनंतरमवाह्यं न तदश्नाति किं च न एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः" इति । तथा आथर्वणे-अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुश्रोत्रं तदपाणि-पादम्" इति । तत्र संशयः, किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्ट ब्रह्म संबंधितया श्रुताः, अस्थूलत्वादयः प्रपंचप्रत्यनीकतास्वरूपाः सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वनुसंधेयाः, उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव-इति । किं युक्तम्? यत्र श्रुतास्तत्रैवेति । कुतः? विद्यान्तरस्य रूपभूतानां गुणानां विद्यान्तरस्य रूपत्वे प्रमाणाभावात्, प्रतिषेधरूपाणामेषामानंदादिवत्स्वरूपावग-मोपायत्वाभावाच्च । आनंदादिभिरवगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि स्थूलत्वादयः प्रपंचधर्माः प्रतिषिध्यंते निलंबनप्रतिषेधायोगात् ।

बृहदारण्यक में पाठ है कि—"हे गार्गि! ब्रह्मवादी इस अक्षर को, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, छायारहित, अंधकार रहित, वायु और आकाश रहित, अनासक्त, रस—गंध नेत्र—कर्ण—मन—तेज —प्राण—सूर्य और चंद्र इस अक्षर के शासन में ही स्थित हैं। "तथा आथर्वण में पाठ है कि—"इसके बाद पराविद्या का उल्लेख है, जिससे उस अक्षर पुरुष की प्राप्ति होती है जो कि—अदृष्ट, अग्राह्य, गोत्र—वर्ण—नेत्र—कर्ण—हस्त-पाद रहित है।" यहाँ संशय होता है कि—अक्षर शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म से संबंधित अस्थूलता आदि जगत् विलक्षण प्रपंचों की सभी ब्रह्मविद्याओं में चिन्तना की जायगी, अथवा जहाँ कहे गए हैं वहीं की जायगी? कह सकते हैं कि—जहाँ कहे गए हैं, केवल वहीं की जायगी।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता कि–एकविद्या के स्वरूप भूत गुणों की दूसरी विद्या, के गुणों के रूप में चिन्तना की जाय। तथा अस्थूलत्व आदि निषेधात्मक की, आनंद ज्ञान आदि की तरह, स्वरूपावगति न होने से, इनमें साधनता का भी अभाव है (अर्थात् इन्हें उपासना का आधार नहीं कहा जा सकता) आनंद आदि से अवगत होने वाले ब्रह्म स्थूलता आदि प्रपंच धर्मों का प्रतिषेध किया गया है इसलिए निरवलम्ब का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता [अर्थात् अस्थूलत्व आदि निर्गुणब्रह्म की उपसना के बोधक हैं, जैसे कि–आनंद आदि ब्रह्म की निर्गुण उपासना होती है, वैसे ही अक्षर की भी होती है, जिन विद्याओं में सगुणोपासना का विधान है, वहाँ इनकी चिन्तना कैसे संभव है?]

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-अक्षरधियांत्ववरोधः, इति। अक्षरब्रह्म संबंधिनामस्थूलत्वादिधियां सर्व ब्रह्मविद्यास्ववरोधः, संग्रहणमित्यर्थः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां। सर्वेषूपासनेषूपास्याक्षरस्यब्रह्मः समानत्वाद्स्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपप्रतीतौ भावाच्च। एतदुक्तं भवति-असाधारणाकारेण-ग्रहणं हि वस्तुनो ग्रहणम्। न च केवलमानन्दादि ब्रह्मणोऽसाधारण माकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यप्यानंदादेर्विद्यमानत्वात्। हेय प्रत्यनीको हि आनंदादि ब्रह्मणोऽसाधारणं रूपम्। प्रत्यगात्मस्तु स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसंबंधयोग्यताऽस्ति, हेयप्रत्यनीकत्वं च चिदचिदात्मक प्रपंचधर्मभूतस्थूलत्वादि विपरीत रूपम्। अतोऽसाधारणाकारेण ब्रह्मणोऽनुसंदधताऽस्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानंदाद्याकारं ब्रह्मानुसंधेयमिति अस्थूलत्वादीनांमानंदादिवद् ब्रह्मस्वरूप प्रतीत्यन्तर्भावात् सर्वासु ब्रह्मविद्यासु तथैव ब्रह्मानुसंधेयमिति गुणानां प्रधानानुवर्त्तित्वे दृष्टांतमाह–औपसद्वत्–इति। यथा जामदग्न्यचतूरात्र पुरोडाश्युपसद्गुणभूतः सामवेद पठितः "अग्निर्वै होत्रं वेतुः" इत्यादिको मंत्रः प्रधानानुवर्त्तितया याजुर्वैदिकेनोपांशु-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वेन प्रयुज्यते। तदुक्तं प्रथमे काण्डे"गुणमुख्य व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद संयोगः "इति।

उक्त मत पर सिद्धान्तरूप से "अक्षरधियांत्ववरोधः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अक्षर ब्रह्म संबंधी अस्थूलत्व आदि चिन्तनों का सभी ब्रह्म विद्याओं में अवरोध अर्थात् संग्रहण होगा। सभी उपासनाओं के उपास्य अक्षर के ही समान हैं। अस्थूलत्व आदि उन सभी की प्रतीति करा सकते हैं। कथन यह है कि-किसी वस्तु के ग्रहण करने का तात्पर्य है, उसके विशेषाकार का ग्रहण करना। जीव में भी आनंद आदि की स्थिति है, इसलिए केवल ब्रह्म की ही, आनंद आदि असाधारण विशेषतायें नहीं कही जा सकतीं। हीनता से रहित आनंद आदि ही ब्रह्म के असाधारण रूप हैं। जीवात्मा वस्तुतः हीनता से रहित होते हुए भी हीनता से संबंधित होने के अयोग्य नहीं कहला सकता [अर्थात्-अनादि मायावश हीनता से संबद्ध है] जड़चेतनात्मक प्रपंचमयजगत् की स्थूलता आदि से विपरीत रूप ही, हेयप्रत्यनीकता हीनता राहित्य है। इस प्रकार के आसाधारण रूप से, जो ब्रह्म की चिन्तना करते हैं उन्हें अस्थूलत्व आदि रूपों से विशेषित आनंदादि रूप ब्रह्म की चिन्तना करनी ही होगी। आनंदादि की तरह अस्थूलत्व आदि भी, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए सभी ब्रह्म विद्याओं में, उसी प्रकार इनकी भी चिन्तना की जावेगी। गुणी, गुण का अनुवर्त्ती होता है, इसका दृष्टांत उपस्थित करते हैं-जमदग्नि द्वारा अनुष्ठित चतुरात्र नामक याग में जैसे पुरोडाश के संस्कारक औपसद् का अनुवर्त्तन होता है "अग्निर्वैहोत्रंवेतु" इत्यादि मंत्र, सामवेदोक्त होते हुए भी, यज्ञांग होने के कारण, यजुर्वेद में उपांशु रूप से उच्चारित है। पूर्व मीमांसा में कहा भी गया है-जहाँ गुण और गुणी का विरोध उपस्थित हो, वहाँ गुणी के साथ ही वैदिक मंत्र और क्रियाओं का संबंध होता है, क्योंकि-गुणों के लिए ही गुणों की योजना होती है।"

नन्वेवं सर्वासुब्रह्मविद्यासु ब्रह्मणएव गुणित्वादगुणानां च प्रधानानुवर्त्तित्वात् "सर्वकर्मासर्वगंधः सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्य प्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्थास्यात्-तत्राह-

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म ही जब सब विद्याओं का गुणी है और सारे गुण उसके अनुवर्ती हैं, "तब सर्वकर्मा, सर्वगंध, सर्वरस" इत्यादि गुणों की जो प्रत्येक विद्याओं में चिन्तन की व्यवस्था की गई है, वह तो अव्यवस्थित हो जायेगी। इसका उत्तर देते हैं—

इयदामननात् ।३।३।३४।।

आमननं-आभिमुख्येनमननं—अनुचिन्तनम्। आमननाद् हेतोरियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसंधेयत्वेन प्राप्तम्, यदस्थूलत्वादि विशेषितमानंदादिकम्। येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसंधानं न संभवति, तदेव सर्वत्रानुवर्त्तनीयम्, तच्चेयदेवेत्यर्थः। इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्त्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यंव्यवस्थिताः।

आभिमुख्य मनन अर्थात् अनुचिन्तन को आमनन कहते हैं आमनन के हेतु—अस्थूलता आदि सहित आनंदादि गुणों की सर्वत्र, चिन्तना बतलाई गई है। जिन गुणों के बिना ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन संभव नहीं है केवल वे ही गुण, सर्वत्र अनुवृत्त होते हैं, और ग्रहण किये जा सकते हैं, ये गुण अस्थूलता आदि ही हैं। अन्य जो सर्वकर्मा आदि गुण हैं, वे गुणी के अनुवर्त्ती होते हुए भी, प्रत्येक विद्याओं में, पृथक् रूप से चिन्त्य बतलाए गए हैं।

१५ अन्तरत्वाधिकरणः—

अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्। ३।३।३५।।

वृहदारण्यके उषस्तप्रश्न एवमाम्नायते "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व" इति। तस्य प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापनिति स त आत्मा" इत्यादि। अतुष्टेन तेन पुनः पृष्ट आह—"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेःश्रोतारं श्रृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञाते

ankurnagpal108@gmail.com

विंज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्" इति। तथा तदनन्तरं कहोल प्रश्ने चैवमाम्नायते-"यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मेव्याचक्ष्व" इति। प्रतिवचनं च- "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवं हैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तैषणायाश्च" "इत्यादि "अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यन्तम्।

वृहदारण्यक में-उषस्त द्वारा ऐसा प्रश्न किया गया कि "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर्यामी आत्मा है मुझे उनका स्वरूप बतलाओ" इसका उसे उत्तर मिला कि-"जो प्राणों के प्राण, जो सर्वान्तरात्मा, अपानों के अपान हैं, वही आत्मा ।" इस उत्तर से असंतुष्ट पृष्टा के पुनः प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया कि-"जो तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते,मति के मंता को, मनन नहीं कर सकते। विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते, तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कुछ आर्त्त (नाशवान) है।" इसके बाद कहोल द्वारा भी इसी प्रकार का प्रश्न किया गया-"जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर-आत्मा है,उसकी व्याख्या करो।" उत्तर मिला कि-"जो,भूख प्यास, शोक, मोह जरा और मृत्यु से परे है, उस आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा और वित्तैषणा" इत्यादि से लेकर-"इससे भिन्न सब आर्त्त है" यहाँ तक उक्त तत्त्व की व्याख्या की गई।

तत्र संशय्यते-किमनयोर्विद्याभेदोऽस्ति, नेति? किं युक्तम् भेद इति, कुतः? रूपभेदात्। प्रतिवचनभेदात् रूपं भिद्यते। प्रश्नस्यैक रूप्येऽपि प्रतिवचन प्रकारो हि भेदेनोपलभ्यते। पूर्वत्रप्राणादीनां कर्त्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते परत्राशनायापिपासादि रहितः। अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनप्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते। परत्र तु तदतिरिक्तोऽशनायापिपासादिरहितः परमात्मा। अतोरूपं भिद्यते। भूतग्रामवतश्च प्रत्यगात्मनस्तस्य भूतग्रामस्य सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम्। यद्यपि प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राम-

ankurnagpal108@gmail.com

मात्रापेक्षत्वे नापेक्षिकम् तथापि तदेव ग्राह्यम्, अन्यथा मुख्यान्तरात्मपरिग्रहलोभात्–परमात्म स्वीकारे प्रतिवचन भेदो नोपपद्यते। प्रतिवचनं हि पूर्वंत्र प्रत्यगात्म विषयम्, परमात्मनः प्राणितृत्वापानितृत्वाद्यसंभवात्। परं च परमात्मविषयं अशनायापिपासाद्यतीत्वात्।

इस पर संशय होता है कि–उक्त प्रसंग में विद्याभेद है या नहीं? कह सकते हैं कि–भेद है, क्योंकि–दोनों में जो उत्तर दिया गया है वह भिन्न है इसलिए दोनों के रूप में भेद है। एक ही प्रकार का प्रश्न है पर उत्तर भिन्न है। पहिले में प्राण आदि के कर्त्ता को सर्वान्तर्यामी कहा गया है, दूसरे में भूखप्यास रहित को सर्वान्तर्यामी कहा गया है। समस्त भूतों में व्याप्त जीवात्मा, भूतों के अन्दर व्याप्त होने के कारण सर्वान्तरयामी है। यद्यपि जीवात्मा की सर्वान्तर्यामिता, सभी भौतिक तत्त्वों में नहीं होती, कुछेक में होने के कारण ही उसे सर्वान्तर्यामी कहा जा सकता है। मुख्यान्तर्यामी परमात्मा को ही यदि, पूर्व उत्तर में भी, सर्वान्तर्यामी मान लेंगे तो भेदात्मक उत्तरों की संगति न होगी। पहिले उत्तर का विषय जीवात्मा संबंधी ही है। प्राण अपान से संबंधित, परमात्मा नहीं हो सकते। दूसरा उत्तर परमात्म विषयक है, क्योंकि उसमें भूख-प्यास आदि से रहित विशेषताओं का उल्लेख है।

तदिदमाशंकते–अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति इति चेत्? अन्तरा सर्वान्तरत्वेन प्रथम प्रतिवचनं भूतग्रामवत् स्वात्मनः, भूतग्रामवान्, तदन्तरः स्वात्मा, प्रत्यगात्मा सर्वान्तर इत्युच्यत इत्यर्थः। अन्यथा–"यः प्राणेन प्राणिति" योऽशनाया पिपासाद्यतीतः" इति प्रतिवचन भेदानुपपत्तिरितिचेत्—

उक्त मत पर शंका करते हैं कि–भूत समुदायों की तरह अपने आत्मा से भिन्न कोई तत्व अन्तर्यामी है, ऐसी भेद प्रतीति "अन्तराभूत् ग्रामवत्" इस सूत्र से होती है? इसका यह तात्पर्य नहीं है अपितु अन्तरा अर्थात् सर्वान्तर रूप से भूतग्रामवत–अपना भूतसमुदाय युक्त आत्मा ही उन भूतसमुदायों का अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् जीवात्मा ही सर्वान्तर्यामी

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मा है इत्यादि तात्पर्य है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो—"प्राणों का प्राण" और "जो भूख प्यासादि से रहित है" इन विभिन्न उत्तरों का समाधान नहीं होगा।

सिद्धान्त—अत्रोत्तरं—नेति। न विद्याभेद इत्यर्थः। उभयत्र पर विषयत्वात् प्रश्नप्रतिवचनयोः। तथाहि—"यत्साक्षादपरोक्षाद्-ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इति प्रश्नस्तावद् परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मा साधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुप-चरित प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावृत्यापरमात्मप्रतिपत्त्यर्थं—"सत्साक्षाद्-ब्रह्म" इति विशेषणं क्रियते। अपरोक्षत्वमपि सर्वदेश सर्वकाल संबंधित्वं "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते। सर्वान्तरत्वमपि—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या-अन्तरः" इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव संभवति। प्रतिवचनमपि तथैव परमात्मविषयम्। "यः प्राणेन प्राणिति" इति निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्त्तृत्वं परमात्मन एव। प्रत्यगात्मनः सुषुप्तौ प्राणनं-प्रति कर्त्तृत्वाभावात् एवमजानतोषत्वेन प्राणने कर्तृत्वमात्रमुक्तं मन्वानेन प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणत्व प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्ठस्तंप्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृतं निरुपाधिकत्वेन प्राणस्य कर्त्तारं परमात्मानमाह—"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादिना। इन्द्रियाधीनानां दर्शनश्रवणमननविज्ञानानांकर्त्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्त्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः, तस्य सुषुप्तिमूर्छादौ प्राणनादेरकर्त्तृत्वात्। "को ह्येवान्यात कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदोनस्यात्" इति सर्व प्राणि प्राणन हेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम्। अतः पूर्वप्रश्न प्रतिवचने परमात्मविषये। एवमुत्तरे अपि, अशनायाद्यतीतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वात्।

ankurnagpal108@gmail.com

उभयत्र–"अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्युपसंहारश्चैकरूपः। प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणन हेतोः परस्यब्रह्मणोऽशनायाद्यतीतत्व प्रतिपादनाय।

सिद्धान्तः—उक्त मत का उत्तर नकारात्मक है, अर्थात् विद्याभेद नहीं है। दोनों जगह प्रश्नोत्तर परमात्म विषयक ही हैं। जैसे कि–"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है" इत्यादि प्रश्न परमात्म विषयक ही है। ब्रह्म शब्द सामान्यतः परमात्मवाची है, कभी-कभी गौण रूप से इसका प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया गया है। उक्त प्रसंग में परमात्मवाची ही है क्योंकि–प्रश्न में "साक्षात् ब्रह्म" ऐसा विशेषण दिया गया है। अपरोक्षता भी सर्वदेश, सर्वकाल संबंधी "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विशेषताओं वाले अनंत परमात्मा में ही संगत हो सकती है। सर्वान्तरत्व भी–"जो पृथ्वी में स्थित सर्वान्तर्यामी है "जो आत्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी है" इत्यादि में वर्णित, सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही संभव है। उत्तर भी परमात्म विषयक ही प्रतीत होता है। "जो प्राणों का प्राण" ऐसा आधिक्य प्रतिपादन प्राणकर्त्ता परमात्मा के लिए ही संभव है, क्योंकि-जीवात्मा का प्राण सुषुप्तावस्था में, कर्त्तृत्व शक्ति रहित निश्चेष्ट रहता है। इस रहस्य के अज्ञाता उषस्त द्वारा केवल प्राण के कर्त्तृत्व के अनुसार जीवात्मा को प्राणशब्दवाची मान कर, बार-बार आग्रहपूर्वक प्रश्न करने पर "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादि में, जीवात्मा से पृथक, प्राण के निरुपाधिक (सर्वकालीन) कर्त्ता परमात्मा का उपदेश दिया गया। इन्द्रियाधीन-दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान आदि भावों के कर्त्ता जीव को, प्राण का कर्त्ता, नहीं माना जा सकता, क्योंकि–सुषुप्तिमूर्छा में जीवात्मा में, प्राणकर्त्तृत्व का अभाव रहता है" यदि यह आकाश-आनन्द न होता तो प्राणन और चेष्टा कौन कर सकता?" इस प्रकरणान्तरीय वाक्य में सभी प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परमात्मा का उल्लेख है। इस प्रकार–पूर्व के प्रश्नोत्तरों के विवेचन से, परमात्मविषयता स्पष्ट हो जाती है। बाद के प्रश्नोत्तरों में भी–भूखप्यासादि से रहित परमात्मा की असाधारणता दिखाई गई है। दोनों ही जगह "बाकी सब आर्त्त है" ऐसा एक सा उपसंहार किया गया है। प्रश्नोत्तरों की

ankurnagpal108@gmail.com

पुनरावृत्ति-समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परब्रह्म की, अनशनादि विशेषताओं के प्रतिपादन के लिए' की गई है।

तत्र दृष्टान्तमाह उपदेशवदिति—यथा सद्विद्यायाम् "उत-तमादेशमप्राक्ष्यः" इति प्रक्रान्ते सदुपदेशे "भगवांस्त्वेवमेतद्-वब्रीत्विति "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इति प्रश्नस्य "एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्" इति प्रतिवचनस्य च भूयोभूय आवृत्तिः सतो ब्रह्मणः तत्तन्माहात्म्यविशेष प्रतिपादनाय दृश्यते तद्वत्। अत एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्यब्रह्मणः कृत्स्नप्राणि-प्राणन हेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपैक्याद् विद्यैक्यम्।

सूत्रकार-उपदेशवत् कहकर इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे—छांदोग्य के सद्विद्या के प्रकरण में—"तुम क्या उस उपदेश की जिज्ञासा करते हो?" इत्यादि से ब्रह्मविद्या का उपक्रम करके—"पूजनीय! आप मुझे उसे बतलाने की कृपा करें" हे भगवन् पुनः बतलाइए,' इत्यादि प्रश्न करने पर—"वह अत्यन्त अणु जगदात्मक और सत्य स्वरूप है" इत्यादि उत्तर में ब्रह्म और उसकी महिमा विशेष के प्रतिपादन के लिए पुनरावृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त प्रसंग में भी है। समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता एक ही सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अशन आदि के प्रतिपादन के लिए ही पुनरावृत्ति की गई है, इसलिए दोनों विद्यायें एक हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अथ स्यात्—यद्युभये प्रश्नप्रतिवचने परब्रह्मविषये तथाऽपि विद्याभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्यम्, इतरत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्, प्रष्टृभेदाच्च, पूर्वत्र उषस्तः प्रष्टा, उत्तरत्र कहोलः, इति। तत्राह—

यद्यपि दोनों प्रश्नोत्तर परब्रह्म विषयक हैं फिर भी, विद्या भेद अपरिहार्य है, क्योंकि—एक जगह ब्रह्म को, प्राणों के हेतु रूप में तथा दूसरी जगह अनशनादि विशेषताओं वाला कहा गया है, जिससे उपास्य के गुणों का स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, इसलिए रूपभेद तो हो ही गया। प्रश्न-

ankurnagpal108@gmail.com

कर्त्ता का भी भेद है, पहिले में उषस्त प्रश्नकर्त्ता है दूसरे में कहोल है। इसका उत्तर देते हैं :—

व्यतिहारो विशिषंति हीतरवत् ।३।३।३६॥

नात्र विद्याभेदः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपदेनैकवाक्यत्वप्रतीतेः। प्रश्नद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टब्रह्म विषयम्। द्वितीये प्रश्ने "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येवकारश्च पूर्वत्रोषस्तेन पृष्टगुणविशिष्ट ब्रह्मविषयत्वं कहोल प्रश्नस्यावधारयति । प्रतिवचनं चोभयत्र "सत आत्मा सर्वान्तरः" इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषय-मेकरूपमेव । विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते "तस्माद् ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य बाल्यत्वेन तिष्ठासेत्" इति । एव सर्वान्तरात्मत्व-विशिष्टं ब्रह्मैक विषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उषस्तकहोलयोरितरेतरबुद्धि व्यतिहारः कर्त्तव्यः। उषस्तस्य या सर्वान्तरात्मो ब्रह्मणः सर्वप्राणिप्राणन हेतुत्वविषया बुद्धिः, सा कहोलेनापि प्रष्ट्रा कार्या, या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशनायाधतीतत्वविषयाबुद्धिः सा उषस्तेनापि कार्या। एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीव-व्यावृत्तिरवगता भवति। एतं सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त-मवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्व प्रतिपादनेन विशिषंति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि । अतोब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वमेवोपास्यगुणः । प्रणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः नोपास्याः।

उक्त प्रसंग में विद्याभेद नहीं है। प्रश्नोत्तरों में एक ही प्रकार के विषय, एक ही प्रकार की विधि से, एकवाक्यता की प्रतीति होती है। दोनों ही प्रश्न सर्वान्तर्यामी ब्रह्म विषयक हैं। द्वितीय प्रश्न में "यदेवसाक्षाद-

ankurnagpal108@gmail.com

परोक्षाद" इत्यादि स उषस्त द्वारा पूछी गई, गुणविशिष्ट ब्रह्म विषयता ही, कहोल के प्रश्न में अनुकृत है। दोनों जगह का उत्तर भी "स आत्मा सर्वान्तरः" सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट ब्रह्म विषयक, एक सा है। उपासना विधायक विधि प्रत्यय "ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य का त्याग कर बाल्य-भाव में स्थित होते है" इत्यादि दोनों के अंत में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार–सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट ब्रह्मैकविषयता के, दोनों स्थानों पर निश्चित हो जाने पर–एकही सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट उपास्य ब्रह्म के विषय में, उषस्त और कहोल दोनों के चिन्तन को परस्पर विनियमित समझना चाहिए, अर्थात् उषस्ति की जो, सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म की समस्त प्राणियों से संबंधित प्राणहेतु विषयक बुद्धि है, वही कहोल द्वारा पृष्ट है; तथा कहोल की जो अनशन आदि विशिष्ट परमात्म संबंधी बुद्धि है, वही उषस्त द्वारा पृष्ट है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय करने पर सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म की, जीव से भिन्नता, स्पष्ट हो जाती है। सर्वान्तिर्यामी परमात्मा की जीवात्मा से भिन्नता बतलाने के लिए ही, उक्त याज्ञवल्यक्य वाक्य प्राणियों की प्राण धारण हेतुता और अनशन आदि का प्रतिपादन, विशेष रूप से ब्रह्म परक ही करता है। इससे सिद्ध होता है कि–ब्रह्म की सर्वान्तिरात्मकता ही उपास्य गुण है, प्राणन आदि की हेतुता, उपपादक गुण हैं, उपास्य नहीं।

ननूपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेत्--प्राणनहेतुत्वस्य अशनायाद्यतीतत्वस्य च पृष्ट्रोः व्यतिहृत्यानुसंधानं किमर्थम्? तदुच्यते--सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवाद्व्यावृत्ते ब्रह्मण्युषस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असंभावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मव्यावृत्तोऽनुसंधेय इतिकृत्वा पुनः प्रश्नः कृतः। याज्ञवल्क्योऽपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्मनोऽसंभावितमशनायादिप्रत्यनीकत्वमुक्तवान्। अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्धयर्थमुभाभ्यां परस्परबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः। इतरवत्--यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्चतदेव सद्ब्रह्मव्यवच्छिद्यते, न पुनः पूर्व प्रतिपन्नाद् गुणान्तरविशिष्ट-

ankurnagpal108@gmail.com

तयोपास्यं, प्रतिपाद्यते, तद्वत्।

यदि कहें कि–यदि सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है तो, प्राणनहेतुता और अनशन आदि गुणों के अनुसंधान का प्रश्न करने का क्या प्रयोजन था ? इस पर कथन यह है कि–उषस्त ने जाना कि, समस्त प्राणियों के प्राणाधार के कारण होने से ही, सर्वान्तरात्मा, जीव से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा ही कहोल ने भी माना कि–जीव में जो नितान्त असंभव हैं, ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त सर्वान्तरात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने पुनः प्रश्न किया और याज्ञवल्क्य ने भी–उनका अभिप्राय समझकर, जीवात्मा से असंभाव्य अनशन आदि की गुणातीतता का उपदेश दिया। उपास्य की, जीव से विलक्षणता सिद्ध करने के लिए, उषस्त और कहोल के पारस्परिक बुद्धि व्यवहार का विनिमय करना चाहिए। जैसे कि सद्विद्या में बार बार प्रश्नोत्तरों से. उसी एक सद्ब्रह्म की विशेषता सिद्ध की गई है, पूर्व प्रतिपन्न गुणों से किसी अन्य विशिष्ट गुणों वाले उपास्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग में सर्वान्तरात्मा की विशेषता सिद्ध की गई है।

तत्रापि प्रश्नप्रतिवचदभेदे सति कथमैक्यमवगम्यत इति चेत्--तत्राह--

यदि कहें कि वहाँ सद्विद्या में भी प्रश्न प्रतिवचन में ही जब भेद है तो एकता कैसी जानी जाय–उसका उत्तर देते हैं :—

सैव हि सत्यादयः ।३।३।३७॥

सैव हि सच्छब्दाभिहिता परमकारणभूतापरा देवतैव "सेयं देवतैक्षत" तेजः परस्यां देवतायाम्" इति प्रकृता "तया सोम्य मधु मधुकृतोनिस्तिष्ठंति" इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपद्यते। यतः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति प्रथमपर्यायोदिताः सत्यादयः सर्वेषु पर्यायेषूपपाद्योपसंहियंते।

"उसी परा देवता ने इच्छा की" तेज परा देवता में लीन हुआ "इत्यादि स्थलों में जिस परा देवता परब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी को "हे सौम्य ! मधुकर जैसे मधु में चिपकते हैं" इत्यादि वाक्यों में

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपादन किया गया है। "यह सब कुछ तदात्मक सत्य है वही आत्मा है" इत्यादि में जिस सत्यादि संपन्न उपास्य का उपदेश दिया गया है, परवर्त्ती सभी उपदेशों में, उसी का संग्रह किया गया है।

केचित्तु—"व्यतिहारो विंशिषंति हीतरवत्" सैवहि सत्यादयः इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयंवर्णयंति। तत्र पूर्वेण "त्वंवाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसंधानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत इत्याहुः तत् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "तत्त्वमसि" इत्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनीयमपूर्वमस्तीत्यनादरणीयम्। तत्तु वक्ष्यते—"आत्मेतितूप-गच्छंति ग्राहयंति च" इति। न च सर्वात्मत्वानुसंधानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसंधानम्, जोवे च परब्रह्मत्वानुसंधानम्, तथ्यं संभवति।

कुछ लोग "व्यतिहारो विशिंषंति हीतरवत्" सैव हि सत्यादयः इन दो सूत्रों को पृथक् अधिकरण रूप से वर्णन करते हैं। प्रथमसूत्र में:— हे भगवन्! तुम मैं हूँ और मैं तुम हो; जो मैं हूँ सो यह है, जो यह है सो मैं हूं" इस वाक्य को प्रस्तुत कर, जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु—"यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है" यह सब आत्म्य है 'वह तू है" इत्यादि से जो सर्वात्मभाव निश्चित किया जा चुका वही, 'तुम मैं हूँ" इत्यादि वाक्य का प्रतिपाद्य षिषय है। इसमें कोई नवीन अर्थ योजना करना ठीक नहीं है। उक्त प्रकार की ब्याख्या आदरणीय भी नहीं है। "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" सूत्र में—इस पर विशेष कहेंगे। सर्वात्मकतानुसंघान के बहाने, परब्रह्म में जीवत्व का अनुसंधान तथा जीव में, परब्रह्मत्व का अनुसंधान करना भी सही नहीं है।

उत्तरेण च सूत्रेण "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यंब्रह्म" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य "तद्यत्सत्य-मसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चायं

ankurnagpal108@gmail.com

दक्षिणेऽस्मिन्" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति, तदप्ययुक्तं उत्तरवाक्ये, अक्ष्यादित्यस्थानभेदेन विद्याभेदस्य पूर्वमेव। "न वा विशेषात्" इत्यनेन प्रतिपादितत्वात्।

द्वितीय सूत्र में—"जो उस प्रथमजात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं" इत्यादि वाक्य की सत्यब्रह्मोपासना और "जो सत्य है वही आदित्य हैं, जो इस आदित्य मंडल का पुरुष है, वही दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष है" इत्यादि वाक्य प्रतिपादित उपासना की एकता का प्रतिपादन करते हैं वह भी असंगत बात है। दूसरे वाक्य में नेत्र और आदित्य में स्थान भेद होने से विद्या भेद है, ऐसा "न वा विशेषात्" सूत्र में बतला चुके हैं।

न च द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादि शरीरकत्वेन रूपवतोः 'हन्तिपाप्मानं जहाति च य एवं वेद' इति पृथक्संयोगचोदनावतोर्द्वयोरुपासनयोः "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्" इति संयोग रूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वेणैकेनोपासने नाभेदः संभवति।

उक्त दोनों उपासनाओं की व्याहृति आदि शरीर के रूप से भी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि—'जो इस प्रकार जानता है वह पापों को नष्ट करता और छोड़ता है" इत्यादि। पृथक संयोग और विधि वाली दोनों उपासनाओं का "जो उस प्रथम जात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं वह इस समस्त लोक को जीतते हैं" इत्यादि में पृथक् फलोल्लेख होने से, पर वाक्य, पूर्व वाक्य से पूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है, इसलिए दोनों वाक्यो में एक उपासना नहीं हो सकती।

न च "हंति पाप्मानं जहाति" इति। फलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात्। पूर्वेणैकविद्यात्वंप्रमाणमिति चेत्, न, इतरेतराश्रयत्वात्। एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वे निश्चिते सति संयोग भेदाभावात् पूर्वेण विद्यैक्यमिति इतरेतराश्रयत्वमित्येवमादिभि र्यथोक्त प्रकारमेव सूत्रद्वयम्।

ankurnagpal108@gmail.com

"हंतिपाप्मानं जहाति" को उपासना का गौण फल भी नहीं कह सकते इसको गौण मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि कहें कि पूर्व और पर विद्या की एकता ही उसका प्रमाण है सो ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। अर्थात् दोनों को एकविद्या मानने से पूर्व फल की प्रधानता पर के दोनों फलों की गौणता सिद्धि होगी। ऐसा होने से, फल संयोग के भेद का अभाव हो जावेगा, जिससे कि दोनों विद्याओं की एकता घटित होती है। इत्यादि असंगतियों से उक्त दो प्रकरणों की बात मान्य नहीं है। जो प्रकार हमने प्रस्तुत किया है वही समीचीन है।

१६ कामाद्यधिकरणः—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८॥

छांदोग्ये श्रूयते—"अथ यदिदमस्मिम् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं, वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्यादि वाजसनेयके च "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि । तत्र संशयः, किमनयोर्विद्याभेदः, उतनेति? किं युक्तम्? भेद इति कुतः? रूपभेदात् । अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकविशिष्टं आकाशः छांदोग्ये उपास्यः प्रतीयते । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणविशिष्ट उपास्यः प्रतीयते, अतो-रूपभेदात् विद्याभेदः ।

छांदोग्य में पाठ है कि-"इस ब्रह्मपुर शरीर के अन्दर जो दहर पुंडरीक गृह है, उसके अन्तस्थ आकाश में जो तत्व है वही अन्वेष्टव्य है" इत्यादि। वाजसनेयी में भी इसी प्रकार-"यही वह महान अज आत्मा जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानमय हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें निवास करता है, वह सर्व नियामक और सर्वाधिपति हैं" इत्यादि यहाँ संशय होता है कि-इन दोनों विद्याओं में भेद है कि-अभेद ? कह सकते है कि-भेद है क्योंकि-दोनों में स्वरूपगत भेद है। छांदोग्य में आठ

ankurnagpal108@gmail.com

गुणों वाले विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है तथा वाजसनेयी में आकाश में शयन करने वाले वशित्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है इस प्रकार दोनों में स्वरूपगत भेद है इसलिए दोनों विद्यायें भिन्न हैं।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न भेद इति । कुतः ? रूपाभेदात्—इतरत्रतत्र च कामाद्येव हि रूपम्—वाजसनेयके छांदोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः । कुत एतदवगम्यते ? आयतनादिभ्यः, हृदयायतनत्वसेतुत्वविधारणत्वादि-भिस्तावदुभयत्र सैव विद्येतिप्रत्यभिज्ञायते । वशित्वादयश्च वाजसनेयके श्रुताः छांदोग्ये श्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य सत्यसंकल्पत्वस्य विशेषा एवेति सत्यसंकल्पत्व सहचारिणां सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयंति, अतो रूपं न भिद्यते ।

सिद्धांत बतलाते हैं कि—भेद नहीं है; रूप के अभेद से यह बात स्पष्ट होती है; जैसे—अन्यत्र काम आदि गुणों से संपन्न को उपास्य कहा गया है, वैसे ही वाजसनेयी और छांदोग्य में, सत्यकामादि विशिष्ट को ही उपास्य कहा गया है। आयतन आदि के वर्णन से ही यह बात निश्चित होती है । हृदायतनत्व, सेतुत्व, विधारणत्व आदि रूप से जिसके चिन्तन का विधान किया गया है, उसे ही, इन दोनों स्थलों पर भी उपास्य कहा गया है । यहाँ वही विद्या निश्चित होती है । वशित्व आदि विशेषतायें वाजसनेय में बतलाई गई हैं और सत्यसंकल्पता आदि विशेषतायें छांदोग्य में बतलाई गई हैं। सत्यसंकल्प से लेकर सत्यकामता निष्पापता पर्यन्त सभी विशेषतायें, सत् का अस्तित्व बतलाने वाली विशेषतायें हैं, इसलिए स्वरूप में भेद नहीं है ।

संयोगोऽपि 'परं ज्योति संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" "अभयं वै ब्रह्म भवति" इति ब्रह्मप्राप्ति रूपो न भिद्यते । आकाश शब्दः छांदोग्ये परमात्मविषय इति "दहर उत्तरेभ्यः"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यत्र निर्णीतम् । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानस्य वशित्वादि-श्रवणात्तस्य तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाधाराभिधायिन आकाशशब्दस्य "तस्यान्ते सुषिरंसूक्ष्मम्" इति हृदयान्तर्गतस्य सुषिरशब्द वाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते अतो विद्यैक्यम् ।

"परं ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से निष्पन्न हो जाता है" निर्भय ब्रह्म हो जाता है" इत्यादि ब्रह्म प्राप्ति रूप, फल संयोग में भी दोनों की अभिन्नता है । छांदोग्य में, आकाश शब्द परमात्म स्वरूप माना गया है, "दहर उत्तरेभ्य:" सूत्र में इसका निर्णय किया जा चुका है। वाजसनेयक में तो, आकाश में शयन करने वाले की वशित्व आदि विशेषताओं का भी उल्लेख है । "तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्" में उल्लेख्य "सुषिर" शब्द आकाशवाची ही निश्चित होता है, इसलिए विद्या एक है।

अथ स्यात्–यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभि: सह सत्कामत्वादि सद्भावोऽवगम्यते इति, तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र परमार्थत: सद्भावाभावात्, तदभावश्च "मनसैवानुदृष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन, मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "एकधैवानुदृष्टव्यं एतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति प्रकृतेन वाक्येन "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्युत्तरेण चोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्व प्रतीतेरवगम्यते, अतो वशित्वादयोऽपि स्थूलत्वाणुत्ववन्निषेध्या इति प्रतीयंते, अत एव छांदोग्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मण: पारमार्थिका गुणा उच्यंते, अतोऽपारमार्थिकत्वादेवंजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थेषूपासनेषु लोप इति–तत्राह–

आपत्ति की जाती है की–वाजसनेयक में जो वशिता आदि गुणों के साथ सत्यकामता आदि गुणों की प्रतीति बतलाई, वह संभव नहीं है। क्योंकि–वहाँ वशिता आदि का परमार्थिक भाव नहीं है। "मन से ही उसे जानना चाहिए, जगत् में कोई भिन्नता नहीं है, जो भिन्नता देखता है वह मृत्यु के बाद मृत्यु प्राप्त करता है" अप्रमेय और ध्रुव इस ब्रह्म को एक ही समझो "इस पारमार्थिक वाक्य से" वही यह आत्मा नेति नेति कहा जाता है" इत्यादि परवर्त्ती वाक्य में, निर्विशेषता की प्रतीति होती

ankurnagpal108@gmail.com

है। इसलिए वशिता आदि भी, स्थूलता अणुता आदि की तरह भिन्न ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् इनका अभाव प्रतीत होता है। इससे निश्चित होता है कि–छांदोग्य में भी, सत्यकामता आदि ब्राह्म गुण, पारमार्थिक नहीं हैं। ऐसे अपारमार्थिक गुणों का, मोक्ष संबंधी उपासनाओं में कोई अस्तित्व नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

आदरादलोपः ।३।३।३९॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तरा प्राप्तानां गुणानामेषां सत्यकामत्वादीनां "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषभूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इत्यादिभिरनयोः श्रुत्योरन्यासु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन सादरमुपदेशादेषामलोपः, अपितूपसंहार एव कार्यः

ब्रह्म के गुण रूप से, इन सत्यकाम आदि गुणों की प्रतीति किन्हीं अन्य प्रमाणों से नहीं होती, अपितु-"उसमें जो अन्तस्थ है वही अन्वेषणीय है" यह आत्मा-निष्पाप, जरा-मृत्य-शोक-भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है "सबको वश में करने वाला सर्वेश्वर है" "यही सर्वेश्वर, भूताधिपतियों के पालक, लोकमर्यादा का रक्षक आधाररूप सेतु है" इत्यादि शास्त्रीय वचनों से ही प्रतीत्य हैं, इन्हें अन्य वाक्यों में भी, मोक्ष संबंधी उपासना के उपास्यगुणों के रूप में, सादर स्मरण किया गया है, इसलिए मोक्षार्थ में इनके अस्तित्व को न स्वीकारना अज्ञान ही है। अपितु मोक्ष के लिए इनका उपसंहार करना चाहिए।

छांदोग्ये तावत्-"तद् य इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सत्यकामत्वादि गुणविशिष्टस्य ब्रह्मणोवेदनमभिधाय "अथ ह इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति । तथा-वाजसनेयके-"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद् गुणेष्वादरः प्रतीयते । एवमन्यत्रापि । न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तराप्रतिपन्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्र परिवर्त्तनेन पूर्वमेव बभ्रम्यमाणान् मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् ।

छांदोग्य में "जो इनकी आत्मरूपता और सत्यकामादि विशेषताओं को जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोकों में यथेच्छ विहार कर सकता है" ऐसे सत्यकामता आदि विशेषताओं वाले परब्रह्म की वेद्यता बतलाकर "जो इस लोक में इनकी आत्मता और सत्यता आदि को न जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोक में यथेच्छ विचरण नहीं कर सकता" इत्यादि से न जानने वालों की अज्ञानता की निंदा करके, इन गुणों से विशिष्ट वेद्य के प्रति आदर प्रकाश किया गया है तथा वाजसनेय में-"सबको वश करने वाला सबका स्वामी है "यही सर्वेश्वर यही भूताधिपतियों का स्वामी भूतपाल है" इत्यादि वाक्यों से बार बार, उपास्य के ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हुए आदर प्रकाश किया गया है। ऐसा ही अन्यत्र भी है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि-हजारों माता पिताओं से भी अधिक वात्सल्य प्रकाश करने वाले शास्त्र प्रतारणा देने वाले शासक की तरह, अपारमार्थिक विरोध करने योग्य प्रमाणांतरों से सिद्ध गुणों का आदरपूर्वक उपदेश देकर, संसारचक्र में पहिले से ही भ्रमित मुमुक्षुओं को पुनः भ्रम में डाल दें।

"नेह नानास्ति किंचन" एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं विधायाब्रह्मणात्मकत्वेन पूर्वसिद्धानानात्वदर्शनं निषेधयतीत्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः । "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्यत्र चेति शब्देन प्रमाणांतर प्रतिपन्नं प्रपंचाकारं परामृश्य न तथाविधं ब्रह्मेति, सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः

ankurnagpal108@gmail.com

प्रपंचविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते, तदेव चानन्तरमुपपादयति–"अग्राह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यते असंगोनहि सज्यते अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति" इति। प्रमाणान्तरग्राह्यविसजातीयत्वान्न विशीर्यते एवमुत्तरत्रानुसंधेयम्। छांदोग्येऽपि–'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतसत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः" इति सर्वविसजातीयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयंते।

"नेहनानास्ति "एकधैवानु" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म के कार्य रूप सारे जगत को तदात्मक अद्वैत बतलाकर ब्रह्मात्मक न मानकर की जाने वाली भिन्नता का निषेध करते हैं, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं।"स एष नेतिनेत्यात्मा" वाक्य में इति शब्द से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से स्थूलसूक्ष्म जगत का उल्लेख करके, ब्रह्म वैसा नहीं है अपितु वह समस्त प्रपंचमय जगत का अन्तर्यामी होते हुए भी, जगत से विलक्षण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। उसी की अनन्तता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि– "ब्रह्म, ग्रहण न करने योग्य अग्राह्य, शीर्ण न होने योग्य अशीर्य, आसक्त न होने योग्य असंग, व्यथित न होने योग्य अव्यथित तथा च्युत न होने योग्य अच्युत है" इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि–शब्दातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञेय वस्तुओं से, यह ब्रह्म, विसजातीय है, इसलिए ब्रह्म की जानकारी में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, वह एकमात्र उसी से ज्ञेय है। जो सारे पदार्थ विसजातीय हैं, वे सब शीर्ण होते हैं, ब्रह्म शीर्ण नहीं होता। इसी प्रकार छांदोग्य में भी वर्णन मिलता है कि–"न यह जरा से जर्जर होता है, न मारने से मरता है, यही सत्स्वरूप ब्रह्म का नगर है, इसीमें सारी कामनायें निहित हैं" इसमें भी सारे जगत को ब्रह्म से विसजातीय बतलाकर उन्हीं में सत्यकामता आदि गुणों को निहित बतलाया गया है।

नन्वेमपि–"तद्य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोक कामो भवति" इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्ट वेदनस्य, परविद्याफलं

ankurnagpal108@gmail.com

च "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इतीदमेव। अतः सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सोर्नोपसंहार्याः इति। अत उत्तरं पठति—

(तर्क) ऐसा होते हुए भी—"तद्य इहात्मानमनुविद्य" इत्यादि वाक्य से—सत्यकामादि गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना के सांसारिक फलोल्लेख होने से इसे मुमुक्षुओं की सगुणोपासना भी नहीं कह सकते। और जो परा विद्या का फल है, वह "परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है" इत्यादि में स्पष्ट कहा गया है। इसलिए जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए, सत्यकामादि गुणों का उपसंहार, उपासनार्थ करना ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्।३।३।४०॥

उपस्थितिः, उपस्थानम्, ब्रह्मोपसंपन्ने सर्वबंधविनिर्मुक्ते स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि, अतएव-उपसंपत्तेरेवहेतोः सर्वेषु लोकेषु कामचार उच्यते "परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते। अतः सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वात्। मुमुक्षोः सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः।

उपस्थित का अर्थ है उपस्थापन (प्राप्ति) अर्थात् जो आत्म ब्रह्म संपन्न हैं, वह सब बंधनों से मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हैं। ऐसी ब्रह्म संपन्नता को प्राप्त व्यक्ति के लिए ही कामचार की बात कही गई है—"परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष अपने समीपवर्ती स्थूल शरीर को भूलकर, भक्षण, स्त्रीरमण, अश्वादि गमन, ज्ञातिजनों के साथ परिभ्रमण, आदि करते हुए लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है" इस अवस्था का वर्णन चतुर्थ पाद में विशेष रूप से करेंगे। सभी लोकों की यथेच्छ प्राप्ति, मुक्त पुरुष का उपभोग्य फल ही

ankurnagpal108@gmail.com

है इसलिए सत्यकामता आदि का, मुमुक्षुओं के लिए, उपास्यरूप से उपसंहार करना चाहिए।

तन्निर्धारणानियमः तदृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबंधः फलम् ।३।३।४१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्मांगभूतोद्गीथादिमुखेन जुहवादिमुखेन पर्णतादिवत् कर्मांगत्वेन निरुढानुष्ठानानीत्युद्गीथाद्युपासन संबंधिनो "यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यंवत्तरं भवति" इति वर्त्तमान निर्देशस्य पर्णतादिसंबंध्यापापश्लोक श्रवणवत् प्रथक्फलत्वकल्पनायोगात् क्रतुषु नियमे नोपसंहार्याणि इति।

यज्ञ कर्मांगजुहू जैसे पत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही ॐ" अक्षर की उद्गीथावयव के रूप में उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में उद्गीथ को भी कर्मांग उपासना के रूप में विधान किया गया है, यह उपासना कर्मागं उपासना के रूप में ही प्रसिद्ध है। उद्गीथ उपासना के संबंध में "विद्या या उपासना के साथ जो कर्म किया जाता है वही प्रबल होता है" इत्यादि में जो वर्त्तमान कालिक क्रिया "करोति" का प्रयोग किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि-जैसे-"पर्णमयी जुहू" में पापश्लोक (अमंगल-कथन) श्रवण के अभाव की पृथक् फलरूप से कल्पना की गई है, वैसी कल्पना उक्त प्रसंग में नहीं है। इसलिए इस संपूर्ण उपासना का यज्ञकार्य में उपसंहार करना चाहिए।

सिद्धान्तः-"एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तन्निर्धारणानियमः" इति निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽवस्थापनं, ध्यानमित्यर्थः। तन्निर्धारणानियमः, कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमः, कुतः? तदृष्टेः उपलभ्यते हि उपासनानुष्ठानानियमः"तेनोभौ कुरुतोपपश्चैतद्देवं वेद यश्च न वेद" इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात्। न चांगत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते। एवमुपासनस्यानंगत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसत्रन्यायेन वीर्यवत्तरत्वं

ankurnagpal108@gmail.com

कर्मफलात् पृथगभूतं फलमित्यवगम्यते। किमिदं वीर्यवत्तरत्वं? कर्मफलस्यैवाप्रतिबंधः। प्रतिबध्यते हि कर्मफल प्रबलकर्मान्तरफलेन तावन्तं कालम् तदभावोऽप्रतिबंधः। स हि अप्रतिबंधः कर्मफलात् स्वर्गादिलक्षणात् प्रथग्भूतमेवफलम्। तदिमुच्यते—पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलमिति। अतः कर्मांगाश्रयाणामपि पृथग्फलत्वाद्गोदोहनादिवत् कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमेनोपसंहारः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। निश्चित मनःस्थिति को निर्धारण अर्थात् ध्यान कहते हैं। यज्ञकर्मों में उद्गीथ आदि उपासना के कर्तव्य का कोई नियम नहीं है। ऐसा ही वर्णन मिलता है—"जो ऐसा जानते हैं और जो लोग नहीं जानते वे दोनों ही कर्म करते हैं" इत्यादि वाक्य में अज्ञाता के लिए भी कर्मानुष्ठान का नियम कहा गया है, इससे उपासना अनुष्ठान का कोई विशेष नियम समझ में नहीं आता। उपासना, यदि कर्मांग होती तो, किसी भी समय उसके अनुष्ठान का, अनियम न होता। उपासना की कर्मांगता अनिश्चित हो जाने पर उपासना विधि की फलाकांक्षा में "रात्रि-सत्रन्याय" के अनुसार यह निश्चित होता है कि—कर्मफल से अधिक प्रबल फलवाली उपासना होती है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इसकी प्रबलता क्या है? कर्मफल का प्रतिबंध न होना। प्रबल कर्मों के फल से, सामान्य कर्मों का फल निश्चित काल तक प्रतिबंधित होता है, जब की प्रबल कर्मों का फल अप्रतिबंधित रहता है। यह अप्रतिबंध, कर्म से प्राप्त स्वर्गादि प्राप्तिरूपफल, से निराला ही फल है। इसीलिए इसे पृथक् अप्रतिबन्ध फल कहा गया। इसलिए उद्गीथ आदि उपासना कर्मांगाश्रित होते हुए भी फलश्रुति के अनुसार विशिष्ट फलवाली हैं, "गोदोहनन्याय" के अनुसार संपूर्ण कर्मों में उद्गीथ आदि उपासनाओं का उपसंहार करना चाहिए।

१८ प्रदानाधिकरणः—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४२॥

दहर विद्यायां 'तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्

ankurnagpal108@gmail.com

कामान् "इति दहराकाशस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वा "एतांश्च सत्यान् कामान्" इति गुणानामपि पृथगुपासनं विहितं तत्र संशयः, गुणचिन्तनेऽपि तद् गुणविशिष्टतया दहरस्यात्मनश्चितन मावर्त्तननीयम्, उत नेति? दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वादीनां गुणित्वात्तस्य च सकृदेवानुसंधातुं शक्यत्वाद् गुणार्थन्तर्चितनं-नावर्त्तनीयम्।

दहर विद्या में -"जो इस लोक में इस आत्मा को और उसके सत्य-कामादि गुणों को जानकर" इत्यादि में दहराकाश परमात्मा की उपासना बतलाकर "सत्यान् कामान्"से इन गुणों कीभी उपासना का विधान किया गया है। यहाँ संशय होता है कि-गुणों के चिन्तन के समय, उन गुणों से विशिष्ट दहराकाश का चिन्तन भी आवश्यक है या नहीं'? दहराकाश परमात्मा ही जब निष्पापता आदिगुणों के आश्रय हैं, तो उनका एकबार चिन्तन करने से ही कार्य चल सकता है तो गुणों के साथ बार बार चिन्तन करना आवश्यक नहीं है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यते-"प्रदानवदेव" इति। प्रदानवदा-वर्त्तनीयमेवेत्यर्थः। यद्यपि दहराकाश एक एवापहतपाप्मत्वादि-गुणानां गुणी, स च प्रथमं चिन्तितः, तथाऽपि स्वरूपमात्रात् गुणविशिष्टाकास्य भिन्नत्वात् "अपहतपमाप्मा विजरः" इत्यादिना गुणविशिष्टतया चोपास्यत्वेन विहितत्वात्पूर्वस्वरूपेणानुसंहितस्या-पहतपाप्मत्वादि विशिष्टतयाऽनुसंधानार्थमावृत्तिः कर्त्तव्या-यथा-"इंद्रायराज्ञे पुरोडाशमेकादश कपालं निर्वपेत् "इंद्रायाधिराजा य" इंद्रायस्वराज्ञे" इतीन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि तत्तद्गुण-संबंध्याकारस्य भिन्नत्वात्। प्रदानावृत्तिः क्रियते; तदुक्तं सांकर्षणे-"नाना वा देवता प्रथक्त्वात्" इति।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "प्रदानवदेव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं अर्थात् प्रदान विधि की तरह, बार बार चिन्तन कर्त्तव्य है। यद्यपि

ankurnagpal108@gmail.com

दहराकाश ही एकमात्र निष्पापता आदि विशिष्ट गुणों के गुणी होने से प्रथम चिंतित होते हैं, फिर भी दहराकाश का जो स्वाभाविक रूप है गुणविशिष्ट रूप से वह निश्चित ही भिन्न है। "अपहतपाप्मा" इत्यादि वाक्य में—गुणविशिष्ट रूप से उनकी उपासना का विधान किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—अविशेषित रूप से उपासित दहर का "निष्पाप" आदि विशिष्ट गुणों सहित पुनः चिंतन करना चाहिए। जैसे कि—" राजा इंद्र को ग्यारह पात्रों में पुरोडाश अर्पित करो "अधिराज इंद्र को "स्वराट्इन्द्र को" इत्यादि में राजगुण विशिष्ट इन्द्र को अधिराज, स्वाराज इत्यादि विशिष्ट गुणों से बार बार प्रदान करने की आवृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त चिंतन की बार बार आवृत्ति का विधान है। पूर्वकांड के संकर्षण में कहा भी गया है—"विशेष विशेष आकृतियों की पृथक्ता से देवता की भी पृथक्ता होती है।"

१९—लिंगभूयस्त्वाधिकरणः—

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।३।३।४३।।

तैत्तरीया दहरविद्यानंतरमधीयते "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्, विश्वं नारायणं देवं अक्षरं परमं प्रभुम्" इत्यारभ्य —"सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इत्यन्तम्। तत्र संशयः, किं पूर्वप्रकृत विद्यैकविद्यात्वेन तदुपास्य विशेषनिर्धारणमनेन क्रियते, उत सर्वं वेदांतोदित परविद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति? किं युक्तम्? दहर-विद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति। कुतः? प्रकरणात्। पूर्वस्मिन्ननु-वाके दहरविद्या हि प्रकृता-"दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुंडरीकं पुरमध्यसंस्थम्, तत्रापि दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासि-तव्यम्।" इति, अस्मिंश्चानुवाके—"पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इत्यादिना, हृदयपुंडरीकाभिधानमस्यनारायणा-नुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्वलयतीति।

तैत्तरीयोपनिषद् में—दहरविद्या के बाद कहा गया है-"सहस्रशिर-

ankurnagpal108@gmail.com

वाले विश्वदर्शी, विश्वकारण, विश्वात्मक, परंप्रभुनिर्विकार देव नारायण को" इत्यादि से प्रारंभ करके "वही निरतिशय प्रकाशमान अक्षर है" यहाँ तक। इस पर संशय होता है कि-पूर्वप्रस्तावित दहरविद्या के साथ, उसी से संबंधित, उपास्यगत कोई विशेष निर्धारित उपासना है अथवा सभी वेदांतों में कही गई परविद्या के उपास्य विशेष की उपासना का निर्धारण है? कह सकते हैं कि दहरविद्योपास्य का निर्धारिण है, ऐसा उसी प्रकरण में वर्णन है। इसके पूर्व के अनुवाक में दहरविद्या का ही वर्णन है। "निष्पाप दहर अर्थात् सूक्ष्म हृदय ही परमेश्वर का वासस्थान है। जो कि देह में पुण्डरीक नाम से प्रसिद्ध है, उसके मध्य में भी सूक्ष्म आकाश है उसमें जो स्थित है, उसी की उपासना करना चाहिए" इत्यादि इसी-अनुवाक में-"पद्मकोश की आकृतिवाला अधोमुख हृदय है" इत्यादि के उपास्य ही, नारायण अनुवाक में भी उपासनीय हैं।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-लिंगभूयस्त्वात्-इति । अस्य निखिल परविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे भूयांसि लिंगानि दृश्यंते, तथाहि परविद्यास्वक्षरशिवशम्भुपरब्रह्म परज्योतिः परतत्त्वपरमात्मादि शब्द निर्दिष्टमुपास्यं वस्त्विह तैरेव शब्दैरनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते, भूयसीषु विद्यासु श्रुताननूद्य नारायणत्वविधानभूयस्त्वं नारायण एव सर्वविद्यासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानंदादिगुणकं परंब्रह्मेति विशेष निर्णये भूयः बहुतरं लिंग भवति । अत्र लिंग शब्दः चिह्नपर्यायः। चिह्नभूतं वाक्यं बहुतरमस्तीत्यर्थः । तद्धि प्रकरणाद् वलीयः। तदप्युक्तं प्रथमकांडे-"श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षणात्" इति । यत्तूक्तं-"पद्मकोषप्रतीकाशम्" इत्यादि वचनं दहरशेषत्वमस्योपोद्वलयति-इति । तत्र, बलीयसा प्रमाणेन सर्वविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधूते सति दहरविद्यायामपि तस्यैव नारायणस्योपास्यत्वेन तद्वचनोपपत्तेः ।

इस मत पर-"लिंगभूयस्त्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। समस्त पर-विद्या के उपास्य विशेष के निर्धारणता के द्योतक अनेक नाम प्रस्तुत

ankurnagpal108@gmail.com

किए गए हैं, जैसे कि-परविद्याओं में, अक्षर-शिव-शम्भु-परब्रह्म परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्दों से निर्दिष्ट उपास्य, यहाँ उन्हीं शब्दों से अनूदित नारायण रूप से उपास्य कहे गए हैं, परविद्या प्रतिपादन अनेक श्रुतियों में जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे ही सब गुण, यहाँ नारायण के लिए पुनः कहे गए हैं, इससे ज्ञात होता है कि-सभी विद्याओं के उपास्य नारायण ही अस्थूलता आदि विशेषित आनंद गुण वाले परब्रह्म हैं। इसके निर्णय में अनेक "लिंग" हैं। लिंग शब्द चिह्न का पर्यायवाची है, अर्थात् उस चिह्न के अनेक वाक्य मिलते हैं। वाक्य प्रकरण से प्रबल हैं। पूर्वमीमांसा के प्रथम काण्ड में इसका नियम इस प्रकार बतलाया गया है-श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर पूर्व की अपेक्षा पर कारणों से अर्थ करने से विलंब होता है इसलिए पूर्व से पर कारण निर्बल है।" जो यह कहा कि-"पद्मकोश प्रतीकाशं इत्यादि वचन दहरोपासना के शेष प्रकरण में आया है अतः उसी का बोधक है, सो बात भी नहीं हैं; बलवान लिंग प्रमाण द्वारा सर्वविद्योपास्यता के निर्णीत हो जाने पर यह समझना चाहिए कि-दहरविद्या में वही नारायण, पद्मकोश में उपास्य कहे गए हैं।

नच "सहस्रशीर्षं" इत्यादि द्वितीया निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासिना संबंध शंकनीयः "तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासित गतेन कृत्प्रत्ययेनोपास्यस्य कर्मणोऽभिहितत्वात् तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः। "विश्वमेवेदंपुरुषः "तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादि प्रथमा निर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या। "अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति निर्देशैः सर्वस्मात् परोनारायण एव सर्वत्रोपास्य इति निर्णीयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते।

सहस्रंशीर्षम् में किये गए द्वितीया विभक्ति के निर्देश के आधार पर पूर्वानुवाक वर्णित उपासना के संबंध की शंका भी नहीं की जा सकती

ankurnagpal108@gmail.com

"तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम" इत्यादि वाक्य में जो उपासना में कृत् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है वह कर्मभूत उपास्य का बोधक है द्वितीया विभक्ति का नहीं। इसी प्रकार "सहस्रशीर्षम्" में कर्मपद में द्वितीया विभक्ति नहीं है अपितु प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। जैसे कि–"विश्वमेवेदं पुरुषम् "तत्त्व नरायणः परः" इत्यादि में प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। "नारायण ही सब वस्तुओं में बाहर भीतर व्याप्त हैं" उसकी ज्योति में परमात्मा स्थित हैं, वहीं ब्रह्मा-शिव-इंद्र-अक्षर परम और स्वप्रकाश है इत्यादि से सब जगह नारायण ही परम उपास्य के रूप में निश्चित होते हैं कि–उक्त पद में प्रथमा स्थानीय द्वितीया विभक्ति है।

२० पूर्वविकल्पाधिकरणः—

पूर्वविकल्पेः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ।३।३।४४॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये मनश्चिनादयोऽग्नयः श्रूयंते "मनश्चितोवाक्चितः प्राणचितः चक्षुश्चितः श्रोत्राचितः कर्मचितोऽग्निचितः"। तत्र संशयः किमेते मनश्चितादयः सांपादिकत्वेन विद्यारूपा अग्न्यः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा आहोस्वित् विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशेन विद्यारूपाएव ? इति विशये क्रियारूपत्वं- तावदाह-पूर्व विकल्पः इत्यादिना। चित्याग्नित्वेन संपादितानामेषां मनश्चितादीनां क्रत्वनुप्रवेशसाकांक्षाणां स्वदेशे क्रतुविध्यभावात् पूर्वत्र- "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिनेष्ट कचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात् तस्य च क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतु सन्निधानात्तत्प्रकरण गृहीता मनश्चितादयस्तेनेष्टकचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः क्रिया रूपा एवस्युः। विद्यारूपाणामपि क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपत्वं मानसग्रहवदुपपद्यते। यथाद्वादशाहे अविवाक्ये दशमेऽहनि मानसग्रहस्य मनोनिष्पाद्यग्रहणा-

ankurnagpal108@gmail.com

सादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामय क्रत्वंगतया क्रियारूपत्वं, तथेहापि ।

वाजसनेयक के अग्निरहस्य में मनश्चितादि अग्नियों का ऐसा वर्णन मिलता है–"मनश्चिद्-वाक्चिद्-प्राणचिद्-नेत्रचित्-श्रोतचित्-कर्मचित् और अग्निचित्" इत्यादि । इस पर संशय होता है कि-मनश्चिद् आदि, मानस संकल्प संपादित विद्यारूप अग्नियाँ, क्रियामय यज्ञ संबंधी क्रियायें हैं अथवा ज्ञानमय यज्ञ की अन्तर्भूत विद्या हैं ? इस पर कह सकते हैं कि-क्रियारूप ही हैं "पूर्व विकल्प" इत्यादि सूत्र में उक्त मत का ही प्रतिपादन किया गया है ।

चयन योग्य अग्निरूप से परिकल्पित मनश्चित् आदि यज्ञ विशेष में अंतर्भूत हैं ऐसी आशंका होती है, इनका यज्ञ प्रकरण में तो कोई यज्ञ विधि रूप से उल्लेख मिलता नहीं । प्रकरण के पूर्व के "यह सारा जगत असत् ही था" इत्यादि वाक्य में, इष्टचित् अग्नि का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि–क्रियात्मक यज्ञ के साथ उस अग्नि का अव्यभिचारी (प्राकृत) संबध है । इसलिये उक्त प्रसंग में भी क्रियामय यज्ञ का प्रसंग समझना चाहिये । इस प्रसंग में कही गई मनश्चित आदि भी यज्ञीय अग्नि के साथ प्रकरान्तर से कल्पित हैं, इसलिए क्रियारूप ही हैं । मानस अर्थात् चिन्तामय ग्रह की तरह मनश्चित् आदि ज्ञानात्मक होते हुए भी क्रियात्मक यज्ञ से संबद्ध होने से क्रिया रूप ही कही जावेंगी । जैसे कि-बारह दिन में पूर्ण होने वाले यज्ञ में दसवें दिन मानसग्रह (हवनीय द्रव्याधार पात्र विशेष मन) की कोई विधि (अर्थात मन को कैसे पात्र बनाया जाय) न होते हुए भी; मन से ही ग्रहण-उत्पादन स्तोत्र-शस्त्र (स्तोत्र विशेष प्रत्याहरण और भक्षण का विधान बतलाया गया है तथा विद्यारूप होते हुए भी इसे क्रियामय यज्ञ का अंग होने से क्रियारूप माना गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग है ।

अतिदेशाच्च ।३।३।४५।।

इत्यश्चेष्टकश्चितेनाग्निना मनस्चितादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं चावगम्यते–"तेषामेकैकएव तावान् यावानसौ पूर्व." इति पूर्व-

स्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चितादिष्वतिदिष्यते, तेन तुल्यकार्यत्वाद् विकल्पः तश्चेष्टकचित्वत्तत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदंगभूताः मनश्चितादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन, क्रियारूपा एवेति ।

इसलिए भी–इष्टकचित् आदि से–मनश्चित् आदि विकल्पों की क्रियारूपता ज्ञात होती है कि–"इन मनश्चित् आदि में एक एक का उतना ही परिमाण है जितना कि पूर्वोक्त अग्नि का परिमाण है" इत्यादि में–मनश्चित आदि अग्नियों में, पूर्वोक्त यज्ञांग अग्नि का वीर्य अर्थात् फलसाधन शक्ति, अतिदिष्ट है। जब दोनों का एक सा ही कार्य है तो, इनमें तदनुरूप विकल्प भी होगा। इष्टकचित् अग्नि जैसे यज्ञ निर्वाहक है मनश्चित् आदि भी उसी प्रकार यज्ञ निर्वाहक हैं। इसलिए ये क्रिया-रूपा ही है।

एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे–इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं–

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४६॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यदुक्तं मनश्चित्तादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति, नैतदस्ति। विद्यारूपाएवैते–विद्यारूपक्रत्वन्वयिन इत्यर्थः। कुतः ? निर्धारणाद् दर्शनाच्च निर्धारणं तावत–"ते है ते विद्याचित् एव विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवंति" इति। वाङ्मनश्चक्षुरादि व्यापाराणामिष्टकादिवत् चयनानुपपत्तेर्मनसा संपादिताग्नित्वेन विद्यारूपत्वे सिद्धेऽपि "विद्याचित् एव" विद्यया हैवैते" इति चावधारणं विद्यामय क्रत्वन्वयेन विद्यारूपत्वज्ञापनार्थमिति निश्चीयते। दृश्यते चात्रैषां शेषी विद्यारूपः क्रतुः "ते मनसैवाधीयन्तमनसैवाचीयन्त-मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवन्तु मनसाशंसन यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किंच यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत" इति। इष्टकचित्तेष्वग्निषु यत् क्रियामयं यज्ञीयं

ankurnagpal108@gmail.com

कर्म क्रियते, तन्मनोनिर्वर्त्येषु मनश्चिताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रियतेति वचनात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते।

तु शब्द पक्ष का व्यावर्तक है। जो यह कहा कि–क्रियामय यज्ञ से संबद्ध होने से क्रियारूप हैं। सो ऐसा नहीं है ये विद्यारूप ही हैं अर्थात् विद्यामय यज्ञ से संबद्ध हैं। ऐसा ही शास्त्रों में उल्लेख है "ये अग्नियाँ विद्याचित् ही है क्योंकि ये ज्ञान संपन्न पुरुष से समाहृत हैं।" वाक्यमनचक्षु आदि की क्रियायें कभी यज्ञीय अग्नि की तरह चयन नहीं की जा सकती, इसलिए इन अग्नियों को मनःकल्पित मानस अग्नि के रूप में ही समझना चाहिए। इस प्रकार इनकी विद्यारूपता सिद्ध हो जाने पर भी पुनः "विद्याचित् एवं" विद्या हैवैते" इत्यादि से इनकी विद्यारूपता का अवधारण किया गया है। जो कि इनकी विद्यामय संबंधी होने की पुष्टिमात्र है। ऐसा ही श्रुतिवाक्यों में अग्नियों के अंगीरूप विद्यात्मक यज्ञ का उल्लेख भी मिलता है–"वे मन से ही अध्ययन करते हैं मन से ही चयन करते हैं मन के सहयोग से ही हवनीय द्रव्यों का संग्रह करते हैं मन से ही स्तव और मन से ही आशंसा करते हैं अधिक क्या यज्ञ में जो कुछ भी कर्त्तव्य हैं वे सब मनोमय चितात्मक मनश्चित् यज्ञ में मनोमय ही होते हैं" इत्यादि में स्पष्ट बतलाया गया कि–इष्टकचित् अग्निमय यज्ञों में जो भी क्रियायें की जाती हैं वो सब मन से संपाद्य मनश्चित् आदि अग्नियों में, मनोमय ही की जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि–यहाँ भी विद्यामय यज्ञ का ही प्रसंग है।

नन्वत्र विधिपदाश्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्चेष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणात् विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपतैषां वाध्यते–नेत्याह–

(तर्क) उक्त प्रसंग में कोई विधिवाची पद या स्वतंत्र फल का निर्देश नहीं है, इसलिए क्रियामय यज्ञ का ही प्रकरण समझ में आता है क्रिया के साथ इनका संबंध भी दिखलाया गया है जिससे विद्यारूपता बाधित हो जाती है। इस तर्क का निरसन करते हैं–

ankurnagpal108@gmail.com

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४७।।

श्रुतिर्लिंगवाक्यानां प्रकरणाद्बलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेषां तदन्वयश्च दुर्बलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते । श्रुतिस्तावत् "तेहैते विद्याचित् एव" इति । तां विवृणोति–"विद्या हैवैते एवंविदश्चिता भवंति" इति । विद्यया विद्यामयेन क्रतुना संबद्धा मनश्चितादयश्चिता भवंतीत्यर्थः "तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति लिंगम् । वाक्यं च "एवं विदे चिन्वंति" इति । समभिव्याहारो वाक्यम् । एवं विदे विद्यामयक्रतुमते सर्वदा सर्वाणि भूतानि, चिन्वंतीत्यर्थः सर्वभूतकर्त्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं मनसा संपादितं परिमितकर्त्तृकाल क्रियामयेष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुवेप्रश संभवमलभमानं विद्यामय क्रत्वनुप्रवेशे लिंगं भवति ।

श्रुति लिंग वाक्य आदि प्रकरणों के बल से–श्रुत्यादि से ज्ञात यह कदापि बाधित नहीं हो सकता । श्रुति में जैसे–"ये सब विद्यामय ही हैं" इसका और भी विस्तार किया गया है जैसे–"इस प्रकार ज्ञान संपन्न व्यक्ति समस्त अग्नियों को ज्ञान द्वारा ही चयन करता है" अर्थात् ज्ञानमययज्ञ के साथ संबद्ध मनश्चित् आदि अग्नि, मानस चिन्तन द्वारा ही संपादित होती हैं । इसी अर्थ का बोधक लिंग भी है–"ऐसे ज्ञान संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूतवर्ग सदा, समस्त अग्नियों का चयन करके सोते हैं ।" "एवं विदे चिन्वंति" वाक्य भी उक्त लिंग के अर्थ का ही ग्राहक है–अर्थात् ऐसे विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूत समुदाय चयन करते हैं । पद समाप्ति को ही वाक्य कहते हैं । समस्त भूत समुदाय से मन ही मन किया गया अग्निचयन कभी क्रियामय यज्ञ में संभव नहीं है–क्योंकि जिसका कर्त्ता, काल और क्रिया सभी परिमित हैं ऐसा मनः, संपादित चयन, मनश्चित् आदि; विद्यामान यज्ञ का ही लिंग है ।

यच्चेदमुक्तं–विधिप्रत्ययाश्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्च क्रियामयात्क्रतोरन्यऽत्र विद्यामयः क्रतुर्नसंभवति-इति-तत्राह–

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि–किसी प्रकार की विधि या प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता और न फल विशेष का ही उल्लेख मिलता है इसलिए यह क्रियामय यज्ञ के अतिरिक्त–विद्यामय यज्ञ नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं–

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञांतर पृथकत्ववद्दृष्टश्चतदुक्तम् ।३।३।४८॥

इष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात् क्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेन अनुबंधादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगभ्यते । अनुबंधाः यज्ञानुबंधिनो ग्रहस्तोत्रशास्त्रादयः "मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवंत मनसाशंसन्" इत्यादिता प्रतिपादिताः । आदि शब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्यन्ते । श्रुत्यादिभिः सानुबंधः विद्यामयक्रतुः पृथगवम्यत इत्यर्थः प्रज्ञांतर पृथक्त्ववत–यथाप्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात् क्रतोः पृथग्भूतं श्रुत्यादिभिरवगभ्यते, एवमयमपि । एवं चानुबंधादिभिः पृथग्भूते विद्यामये यज्ञेऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते । दृष्टिश्चानुवाद सरूपेषु कल्प्यमानो विधिः । तदुक्तं– "वचनानित्वपूर्वत्वात्" इति । फलं च–"तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः" इत्यतिदेशात् स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यवगम्यते ।

इष्टकचित् क्रियात्मक यज्ञ से, यह विद्यामय यज्ञ पृथक् है, ऐसा–पृथक्ता के ज्ञापक अनुबंधादि से ज्ञात होता है। यज्ञ संबंधी ग्रह को अनुबंध कहते हैं जो कि–स्तोत्र शास्त्र आदि हैं। जैसे कि–"मन ही मन ग्रहों का ग्रहण करते हैं तथा–मन ही मन स्त्रोत्र तथा आशंसा करते हैं" इत्यादि सूत्र में–आदि से तात्पर्य श्रुति इत्यादि से है; अर्थात् अनुबंध युक्त श्रुति आदि से–इस विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता ज्ञात होती है। जैसे कि–श्रुतिलिंग आदि प्रमाणों से' दहर आदि अन्य विद्यायें जैसे क्रियामय यज्ञसे पृथक प्रतीत होती हैं, वैसे ही यह भी है। अनुबंध आदि कारणों से विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता सिद्ध हो जाने पर इस विषय में विधि कल्पना भी की जा सकती है। अनुवाद स्वरूप वाक्यों में विधि कल्पना देखी भी जाती है। ऐसा ही उल्लेख भी है–"अपूर्व या प्रमाणांतर प्रसिद्ध विषय के

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञापक सामान्य वचन भी विधिरूप से कल्पित हो सकते हैं। "पूर्ववर्त्ती यज्ञ जिस परिमाण में फलदायक हैं उसी परिणाम में ये सब, एक एक फलदायक हैं" इत्यादि में पूर्वोक्त क्रतुफल के अतिदेश से ज्ञात होता है कि-इष्टकचित अग्नि से जो फल प्राप्त होता है मनश्चित् आदि से भी वही मिलता है।

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात् क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशो अवगम्यत इत्युक्तम्। तत्राह–

और जो यह कहा है कि-अतिदेश से दोनों की तुल्यकारिता प्रतीत होने से मनश्चित् आदि भी क्रियामय यज्ञ संबद्ध ही ज्ञात होते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः।३।३।४९॥

नावश्यमतिदेशादवान्तरव्यापारस्यापि तुल्यतया भवितव्यं येन क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्यमात्रादतिदेशोपलब्धेः। उपलभ्यते हि–"स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मंडलेपुरुषः "इत्यादिषु संहर्तृत्वादिसामान्यमात्रादतिदेशः, नहि तत्र मंडलपुरुषस्य मृत्युवत्तल्लोकापत्तिः, तद्देशप्राप्तिरपि भवति, एवमिहापि मनश्चितादीनामिष्टकचिताग्निवद् भावातिदेशमात्रेणेष्टकचिताग्निदेशरूप क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम्। अत इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादवगम्यते।

अतिदेश के प्रधान कार्य में तुल्यता हो सकती है, उपकार्य में भी तुल्यता हो ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर मनश्चित् आदि को क्रियामय यज्ञ का अंग माना जा सके। किसी न किसी सामान्य सादृश्य में ही अतिदेश होता है। जैसे कि-"यह जो आदित्य मंडल में पुरुष है, यही वह मृत्यु है। "इसमें केवल संहारकर्त्तृत्व के सादृश्य के आधार पर अतिदेश है। मृत्यु का जो देश या काल है मंडल पुरुष उसे प्राप्त भी करे ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार यहां भी मनश्चित्

ankurnagpal108@gmail.com

आदि का इष्टकचित् से साधर्म्य मात्र में ही अतिदेश है; इष्टकचित् अग्नि स्थानीय मनश्चिदादि भी हैं इसलिए क्रियामय यज्ञ में उनकी गणना की जाय ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इष्टकचित् अग्नि की यज्ञ क्रिया से जो फलावाप्ति होती है वही मनश्चिदादि विद्यामय क्रिया से भी सहज प्राप्त हो जाती है, यही उक्त अतिदेश का तात्पर्य है।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबंधः।३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य तादविध्यं–तदविधत्वं, विद्यामय प्रतिपादित्वमवगम्यते। परेण हि ब्राह्मणेन "अयंवावलोक एषोऽग्निचितस्तस्याप एव परिश्रिताः" इत्यादिना "स यो हैतदेवं वेद लोकं पृणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसंपद्यते" इति पृथक्फलविद्यैव विधीयते, तथा वैश्वानर विद्यादौ च विद्यैव विधीयते। अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैकविषयत्वं नास्ति। एवं तर्हि विद्यामया मनश्चितादयो वृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः, किमर्थमिहानुबध्यंते, तत्रोच्यतेभूयस्त्वात्त्वनुबंधः, इति। मनश्चितादिषु संपादनीयानामग्न्यंगानां भूयस्त्वात्संन्निधाविहानुबंधः कृतः।

परवर्त्ती ब्राह्मण वाक्य के, मनश्चिदादिबोधक शब्दों से विद्यामय यज्ञ की प्रतिपादकता ज्ञात होती है। जैसा कि-"यह लोक ही अग्निचित् है जल इसे परिवेष्टित किये हैं" जो इसको उक्त प्रकार से जानते हैं वे जागतिक वृतियों को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से पृथक फल विद्या का विधान किया गया है। इसी प्रकार वैश्वानर आदि विद्याओं का भी पृथक निर्देश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–क्रियानुष्ठान ही अग्नि रहस्य का एकमात्र विषय नहीं है। आप कह सकते हैं कि–यदि ऐसा ही था तो बृहदारण्य में इसका उल्लेख होना चाहिए था, कर्मकाण्ड के प्रकरण में इसके उल्लेख का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर सूत्रकार "भयस्त्वादनुबंधः" इस सूत्रांश से देते हैं अर्थात्–मनश्चिदादि अग्नियों में, यज्ञांग अग्नियाँ, अधिकांश में विद्यमान हैं, इसलिए इनका इस प्रकरण में उल्लेख है।

ankurnagpal108@gmail.com

२१. शरीरेभावाधिकरणः—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५१।।

सर्वासु परविद्यासूपास्योपासनस्वरूपवदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वमुक्तं—"त्र्याणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इति वक्ष्यति चास्य प्रत्यगात्मनः परमात्मकत्वेवानुसंधानम् "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" इति। किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाताकर्त्ताभोक्तेहामुत्र-संचारक्षमोऽनुसंधेयः, उत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादि-स्वरूपः ? किं युक्तम् ? ज्ञातृत्वाद्याकारमात्र इत्येके मन्यंते, कुतः ? अस्योपासकस्यात्मनः शरीरेभावात्, शरीरे वर्त्तमानस्य तादृशमेव-रूपम्, तावतैवानुसंधानेन तत्फलसिद्धयुपपत्तेश्च। नहि कर्मस्व-धिकृतानां स्वर्गादिफलार्थिनां ज्ञातृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं रूपं साधनानुष्ठानदशायामनुसंधातव्यम्, तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेरतिरिक्तानुसंधाने प्रयोजना-भावात्, तदविशेषादिहापि तथैव। ननुचात्र "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति विशेषवचनादपहतपाप्म-त्वाद्याकार एवानुसंधातव्य इत्यवगम्यते, मैवम् "तं यथायथोपासते" इत्युपास्यविषयत्वात्तस्य।

सभी परविद्याओं में उपास्य और उपासनाओं के स्वरूप की तरह उपासक के स्वरूप को भी ज्ञातव्य कहा गया है। "तीनों के स्वरूप के विस्तार का प्रश्न किया" इत्यादि से यही मत स्थिर होता है। "आत्मे-तितूपगच्छंति ग्राहयंतिच" सूत्र भी जीवात्मा में परमात्मभाव के चिन्तन का विधान बतलाता हैं। इस पर संशय होता है कि—यह जीवात्मा ही ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता तथा इहलोक परलोक क्षम कहा गया है अथवा प्रजा-प्रति वाक्य में निष्पापता आदि गुणों वाला कहा गया है? इस पर एक का कथन है कि—ज्ञातृत्वादिविशिष्ट जीवात्मा ही यहाँ विवक्षित है,

ankurnagpal108@gmail.com

क्योंकि–उपासक के शरीर में उसकी सत्ता रहती है, अर्थात् शरीर में उसका अपहृतपाप्मता आदि गुणों से संपन्न रूप वर्तमान रहता है ज्ञातृत्व आदि धर्मों का चिन्तन और फलसिद्धि भी शरीर स्थिति में ही होता है। जो कर्मानुष्ठान के अधिकारी और स्वर्गफलाभिलाषी हैं, फलानुभवकाल में उनका जैसा स्वरूप अभिव्यक्त होता है, साधमानुष्ठान काल में वैसे ही स्वरूप का चिन्तन आवश्यक नहीं है। क्योंकि–चिन्तन द्वारा ही जब उनका साधनानुष्ठान और उसका फल संपन्न हो जाता है तो उसके अतिरिक्त चिन्तन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, वैसे ही उपासक की स्थित भी है कोई विशेष बात नहीं है ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट जीवात्मा के स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए। अब प्रश्न होता है कि–"साधक इस लोक में जैसी उपासना करता है, मरणोपरान्त वैसी ही अवस्था प्राप्त करता है" इत्यादि से तो यही ज्ञात होता है कि–निष्पापता आदि विशिष्ट आकार का ही चिंतन करना चाहिए; सो बात नहीं है, "उसे जैसे-जैसे भजते हैं" इत्यादि में उपास्य विषयक विज्ञप्ति है, उपासक विषयक नहीं।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–इस मत पर सूत्रकार सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५२।।

न त्वेतदस्ति–यत् ज्ञातृत्वाद्याकार एवानुसंधेय इति अस्यात्मनः संसारदशायाः मोक्षदशायां यो व्यतिरेकः, सोऽपहृतपाप्मत्वादिकोऽनुसंधेयः, अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं, तादृग्रूप एव उपासन वेलायामात्माऽनुसंधेय इत्यर्थः कुतः ? तद्भावभावितत्वात्तद्रूपाप्तेः । "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" तं यथायथोपासते तथैव भवति" इति यथोपासनमेव हि प्राप्तिः श्रूयते ।

बात उक्त प्रकार की नहीं है अपितु ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट आकार को ही चिन्त्य बतलाया गया है। इस जीव का संसार दशा और

ankurnagpal108@gmail.com

मोक्ष दशा का जो भेद है वह अनुसंधेय निष्पापता आदि विशिष्ट आकार से ही है। अर्थात् इसका मोक्ष दशा का जैसा रूप है, वैसे ही रूप का उपासना के समय आत्मा में अनुसंधान करना चाहिए। उस रूप की प्राप्ति के लिए तद्भावभावित होना चाहिए। "पुरुष इस लोक में जैसा अनुष्ठान करता है मरणोपरान्त वैसा ही होता है "उसको जैसे-जैसे भजता है वैसा ही होता है" इन वाक्यों में उपासनानुसार ही फलावाप्ति बतलाई गई है।

न च परस्वरूपमात्रविषयमेवेदमिति वक्तुं शक्यते, प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्यभूतपरब्रह्मशरीरतयोपास्यकोटिनिक्षिप्तत्वात्। अतः प्रजापतिवाक्योदितापहपाप्मत्वादिगुणकप्रत्यगात्मशरीरपरमात्मोपासनस्य तथारूपमेव प्राप्यमित्युक्तं भवति। अतएव "एवं क्रतुर्हीमुंलोकं प्रेत्यभिसंभवितास्मि" इत्युच्यते। तस्मात् प्रत्यगात्मा प्राप्याकार एवानुसंधेयः।

ऐसा नहीं कह सकते कि यह वाक्य परमात्म विषयक ही है। जीवात्मा, उपास्य परमात्मा का शरीर ही तो है इसलिए उसे भी उपास्य श्रेणी के अंदर ही समझना चाहिए। कथन यह है कि—प्रजापतिवाक्य में उल्लेख्य निष्पापता आदि गुणों वाले जीवात्मा के शरीरी परमात्मा की उपासना का, वैसा (निष्पापता आदि गुणों वाला) ही रूप प्राप्य बतलाया गया है। इसीलिए "मैं यहाँ जैसा संकल्प वाला हूँ परलोक में वैसे ही रूप का होऊँगा" इत्यादि कहा गया। इस श्रुति से ज्ञात होता है कि-जीवात्मा का प्राप्य आकार ही अनुसंधेय है।

उपलब्धिवत्—यथा ब्रह्मोपलब्धिर्विहिता, यथावस्थितब्रह्मस्वरूपविषया, तथात्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूप विषयेत्यर्थः। कर्मस्वात्मस्वरूपानुसंधानं कर्मांगम्" यजेत् स्वर्गकाम इति कर्मानुष्ठानमेव हि फलाय चोद्यते। देहातिरिक्तज्ञातृत्वाद्याकारात्मावगतिः कालांतरभाविफलसाधनकर्माधिकारार्थेति तावन्मात्रमेव तत्रोपेक्षितमिति न किंचिदपहीनम्।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि-ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ रूप से संभव है, वैसे ही आत्मोपलब्धि भी, आत्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ हो सकती है। कर्मानुष्ठान में. आत्मचिंतन कर्म का ही एक अंग है "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में शुद्ध कर्मानुष्ठान ही फलोत्पादन में विहित है। देहातिरिक्त ज्ञातृत्वादिविशिष्ट आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह कालान्तर में होने वाले, फल के उपाय स्वरूप कर्माधिकार की द्योतिका मात्र होती है, वहीं इसकी अपेक्षा रहती है

२२ अंगावबद्धाधिकरणः—

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३॥

"ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत" लोकेषुपंचविधंसामोपासीत" उक्थमुक्थमिति वै प्रजावदंति तदिदमेवोक्थम इयमेव पृथ्वी "अयंवाव लोक एषोऽग्निचितः" इत्येवमाद्याः क्रत्वंगाश्रया उपासना भवंति, ताः किं यासु शाखासु श्रूयंते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासूद्‌गीथादिषु संबध्यंत इति विचारः। सर्ववेदांत प्रत्ययत्वे स्थितेऽपि प्रतिवेदं स्वरभेदादुद्‌गीथादयो भिद्यंते इति तत्र तत्र व्यवतिष्ठेरन्निति युक्ता शंका किं युक्तम्? व्यवतिष्ठेरन्निति, कुतः? "उद्‌गीथमुपासीत" इति सामान्येनोद्‌गीथ संबंधितया श्रुतायास्तस्यामेवशाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्‌गीथविशेषस्य सन्निधानात्तस्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति एवमाद्यास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्निति।

"ओम इस अक्षर की उद्‌गीथ रूप से उपासना करो" "लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए" प्रजा जिसे उक्थ कहती है, वह उक्थ ही पृथ्वी है"यही लोक में 'अग्निचित् है" इत्यादि यज्ञांग उपासनायें हैं। प्रश्न होता है कि-ये जिन शाखाओं में कही गई हैं वहीं के लिए नियत है, अथवा सभी शाखाओं में उद्‌गीथ आदि में संबद्ध हैं ? कह सकते हैं कि-जहाँ जहाँ वर्णन है वहीं नियत हैं। जैसे-"उद्‌गीथमुपासीत्"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादि में सामान्यतः उद्गीथ संबंधी उपासना सुनी जाती है, किसी शाखा में स्वरविशेष युक्त उद्गीथ विशेष का उल्लेख मिलता है। इसलिए ऐसी ही अन्यान्य उपासनायें भी अपनी अपनी शाखाओं में ही विशेष उपयुक्त हैं। उपासना का इसी में पर्यवसान उपयुक्त है।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–"अंगावबद्धास्तु" इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नहि उद्गीथाद्यंगावबद्धा उपासनास्तास्वेव शाखासुव्यवतिष्ठेन्, अपितु प्रतिवेदं संबध्येरन् सर्वासु शाखास्वित्यर्थः। हि शब्दो हेतौ। यस्माच्छ्रुत्यैवोद्गीथाद्यंगमात्रावबद्धा, तस्माद्यथोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र संबंध्येरन् यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथ व्यक्तयोभिद्यन्ते, तथापि सामान्येनोद्गीथ श्रुत्या सर्वाव्यक्तयः सन्निहिता इति न क्वचिद् व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः। अतः सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोः सन्निधानात् क्रत्वंगभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था।

इस पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से "अंगाववद्धास्तु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द शंका का समाधान करता है। उद्गीथ आदि उपासनायें केवल उन्हीं शाखाओं में ही युक्त नहीं हैं अपितु हर श्रुति से संबद्ध हैं अर्थात् सभी शाखाओं से सबद्ध हैं। जिन कारणों से श्रुति में इन्हे शाखामात्र से आबद्ध बतलाया गया है, उन्हीं कारणों से उद्गीथ को भी सभी शाखाओं से संबद्ध कहा गया है। यद्यपि स्वर भेद से प्रत्येक शाखा में उद्गीथ भिन्न भिन्न रूप से वर्णित है फिर भी सामान्य रूप से उद्गीथ नाम सभी शाखाओं में एक ही उपासना का वाचक है उपासना संबंधी व्यवस्था का कहीं कोई प्रमाण नहीं है। "सर्वशाखाप्रत्ययन्याय" से ज्ञात होता है कि–समस्त शाखों का यज्ञ एक है, सभी शाखाओं में एक ही यज्ञ के सानिध्य होने से, उसी यज्ञ की अंगरूप उद्गीथ आदि स्वतः ही वहाँ सन्निहित रहती हैं, इनकी शाखाओं में, कोई स्वतंत्र स्थिति तो रहती नहीं जिससे इनकी भिन्न व्यवस्था की जा सके।

ankurnagpal108@gmail.com

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ।३।३।५४॥

वा शब्दश्चार्थे, आदिशब्देन, जातिगुणसंख्यासादृश्यक्रमद्रव्य कर्माणि गृह्यंते, यथा मंत्रादीनामेकैकशाखास्वाम्नातानामपि शेषिणः क्रतोः सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं श्रुत्यादिभिः सर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते तद्वदिहाप्यविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द च अर्थ में प्रयुक्त है। आदि शब्द, जाति-गुण-संख्या-सादृश्य-क्रम-द्रव्य और कर्म का ग्राहक है। मंत्र आदि का जैसे शाखा विशेष में पठित होते हुए भी, उनके अंगी, प्रधान यज्ञ के, सभी शाखाओं में एक होने से उनका सभी शाखाओं में विनियोग करना विरुद्ध नहीं होता; वैसे ही यहाँ भी उक्त यज्ञांग उपासनाओं का कोई विरोध नहीं होता।

२३—भूमज्यायस्त्वाधिकरणः—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।३।३।५५॥

"प्राचीनशाल औपमन्यवः" इत्यारभ्य वैश्वानरविद्या आम्नाता, तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यः श्रुतः स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवः, तत्र च द्यौमूर्धा, आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशः संदेहः मध्यकाय इत्यर्थः, आपो वस्तिः, पृथ्वीपादावित्यवयवविशेषाः। तत्र संशयः, किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम् उत व्यस्तस्य समस्तस्य च अथ समस्तस्यैवेति? किं युक्तम्? व्यस्तस्येति, कुतः? उपक्रमे व्यस्तोपासनो-पदेशात्। तथाहि उपदिश्यते औपमन्यवादयः किलोद्दालकषष्ठाः केकयमश्वपतिमुपसद्य "आत्मानमेवेमंवैश्वानरं संप्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति पप्रच्छुः। स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् द्युप्रभृतीनुक्त-वद्भ्यो मूर्धादिषु व्यस्तेषूपासनं तत्र तत्र फलं चोक्तवान् "अत्यन्नं

ankurnagpal108@gmail.com

पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते मूर्धात्वेष आत्मन इति एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः" इत्यादिना। तेषुतेषूपासनेषूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह। अतो व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम्।

"प्राचीनशाल" आदि में जो वैश्वानर उपासना का उपदेश है उसमें, वैश्वानर परमात्मा त्रैलोक्य शरीर वाला उपास्य कहा गया है। उसमें भी-द्यु लोक-आदित्य-वायु-आकाश-पृथ्वी आदि अवयव रूप से बतलाए गए हैं, द्यु लोक उनका मूर्धा, आदित्यनेत्र वायु प्राण, आकाश मध्य शरीर, जल कटि प्रदेश, पृथ्वी चरण स्थानीय है। इस पर संशय होता है कि-त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर के प्रत्येक अंग की पृथक् पृथक् उपासना करनी चाहिए अथवा अवयव और संपूर्ण देह दोनों की करनी चाहिये या केवल समस्तदेह ही की करनी चाहिए? कह सकते हैं कि-अलग अलग अंगों की ही करनी चाहिए, उपक्रम में ऐसा ही उपदेश दिया गया है। उद्दालक को लेकर उपमन्यु आदि छः व्यक्ति कैकेयाधिपति राजा अश्वपति के यहाँ गए और जिज्ञासा की कि-"इस समय केवल आप ही वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, हमें उसके स्वरूप का उपदेशकरिये" इसके बाद उन लोगों ने अपने अपने उपास्य द्यु लोक आदि का उल्लेख किया तब अश्वपति ने उन सब को उन अंगों की उपासना और उसका फल का माहात्म्य बतलाया "वे उपासक, अन्न का भोग करते हैं, प्रियदर्शन करते हैं, उनके वंश में ब्रह्म तेज संपन्न व्यक्ति जन्म लेते हैं, जो ऐसी वैश्वानर की उपासना करते हैं' इत्यादि से उन उपासनाओं में उपास्य, वैश्वानरत्व की ही सिद्धि की। इससे स्पष्ट होता है कि-अलग अलग उपासना ही करनी चाहिए।

परत्र "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते" इति। द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य मूर्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगंतव्यं अपर आह-एवमेव समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात् "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वेषु भूतेषु स्वर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति । न चैतावता वाक्यभेदः, यथा भूमविद्योपक्रमे नामाद्युपासनं तत्तत्फलंचाभिधाय "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इत्यादिना भूमविद्यामुपदिश्य "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति" इति तत्फलं च व्यपदिशति,तत्र भूमविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्यवान्तरोपासनं तत्तत्फलं चांगीक्रियते, तथा इहापीति ।

दूसरी जगह "जो प्रदेशमात्र इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है" इत्यादि में द्युलोक आदि प्रदेश परिच्छिन्न वैश्वानर के संबंध में कही गई उपासना का संक्षेप में उपसंहार किया गया है दूसरा मत है कि-व्यष्टि की तरह समष्टि की भी उपासना करनी चाहिए। उसका पृथक् फल बतलाया गया है "जो व्यक्ति प्रादेश परिमित वैश्वानर की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे सभी लोकों में सभी प्राणियों में, सभी भूतों में अन्न भोग करते हैं।" इत्यादि, समस्त और व्यस्त उपासना मानने पर वाक्य भेद की संभावना भी नहीं है। जैसे कि–भूमाविद्या के प्रकरण में नाम आदि की स्वतंत्र उपासना और उसका फल बतलाने के बाद "जो सत्य-वादी है वही अतिवादी है" इत्यादि से भूमाविद्या का उपदेश करके "वे स्वच्छंद हो जाते हैं, सभी जगह उनकी यथेच्छ गति हो जाती है" इत्यादि से भूमा का स्वतंत्र फल भी बतला दिया गया है। जैसे उसमें भूमा के आनुषंगिक नाम आदि की पृथक उपासना और फल का उल्लेख है, वैसे ही यहाँ इस वैश्वानर विद्या में भी है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–भूम्नः, विपुलस्य समस्तस्यैव ज्यायस्त्वं, प्रामाणिकत्वमित्यर्थः, एकवाक्यत्वावगतेः। तथाहि "प्राचीनशाल औपमन्यवः', इत्युपक्रम्य "उद्दालको ह वै भगवंतो अयमारुणिसंप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हंताभ्यागच्छाम" इति वैश्वानरात्मवुभुत्सयौपमन्यवादयः पंच महर्षयः तमुद्दालक-मुपेत्य तत्रवैश्वानरात्मवेदनमलभमानास्तेन च सहाश्वपतिं केकयं वैश्वानरात्मवेदिनमुपसंगम्य "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि

ankurnagpal108@gmail.com

तमेव नो ब्रूहि" इति पृष्ट्वा तत्सकाशात् परमात्मानं वैश्वानरं स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तशरीरमुपास्यमवगम्य तत्फलं च सर्वलोक सर्वभूत सर्वात्मात्रभूतब्रह्मानुभवमवगतवन्त इत्युपसंहारतो वाक्य-स्यैकत्वमवगम्यते । एवमेक्यवाक्यत्वेऽवगते सत्यवयवविशेषेषू-पास्तिवचनं फलनिर्देशश्च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रमिति निश्चीयते ।

भूमा का तात्पर्य विपुलता अर्थात् समस्त से है, ज्यायता का तात्पर्य प्रामाणिकता अर्थात समस्त प्रसंग की एक वाक्यता है । जैसा कि "प्राचीन शाल" इत्यादि से प्रारंभकर "हे भगवान् अरुण पुत्र उद्दालक ही इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, हम उनके निकट ही गमन करें" इस प्रकार वे उपमन्यु आदि पाँचों ऋषि वैश्वानर विद्या की प्राप्ति की आशा से अरुणि के पास गए वहाँ भी वैश्वानर रहस्य को न पाकर उनके साथ महाश्वपति केकय के पास जाकर जिज्ञासा करते हैं कि— "इस समय वैश्वानर आत्मा को केवल आप ही जानते हैं, आप हमें उसका उपदेश दें" इसके बाद अश्वपति से स्वर्ग से पृथ्वी तक वैश्वानर शरीरी की उपास्यता समझ कर उसके फलस्वरूप, सर्वलोक, सर्वभूत सर्वात्मा का अन्न स्वरूप ब्रह्मानुभव भी किया । इस प्रकार समस्त प्रक-रण की एकवाक्यता है । एकवाक्यता के निश्चित किये जाने पर ही प्रधान अंगी वैश्वानर के अवयवों का पृथक् उपदेश और फल निर्देश किया गया है जोकि–समस्त वैश्वानर उपासना के एकांश का पुनरुल्लेख मात्र ही निश्चित होता है ।

क्रतुवत–यथा–"वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत पुत्रे जाते" इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशाः "यदष्टाकपालोभवति" इत्यादिभिरनूद्यंते, तथा समस्तोपासनमेव न्याय्यम् न व्यस्तोपासनम् ।

जैसे कि—"पुत्र के जन्म होने पर द्वादशकपालों में वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में विहित यज्ञ विधिका "यदष्टाकपालो भवति" इत्यादि में–एकांश में अनुवाद मात्र ही किया गया है । वैसे ही उक्त

ankurnagpal108@gmail.com

बात भी है। इसलिए समस्त उपासना ही न्याय्य है व्यस्त उपासना नहीं।

तथाहि दर्शतीयं श्रुतिः व्यस्तोपासने अनर्थं ब्रुवती—"मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" इति "अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः" इत्यादिका। अत इदमप्यपास्तं यन्नामाद्युपासन साम्यमुक्तम्। तत्र हि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न श्रुतः, नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं श्रुतम् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इति। तत एव तत्र भूमाविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्वं, अन्यथाऽतिशयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविद्यास्तुत्यनुपपत्तेः, अतः समस्तोपासनमेव न्यायम्।

श्रुति भी व्यस्तोपासना की अनिष्टता बतलाती है—"यदि तुम मेरे निकट न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता" यदि तुम न आते तो अंधे हो जाते" इत्यादि। नाम आदि उपासना के साथ साम्य कहा गया है, यह कथन भी उक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है वहाँ जो नाम आदि की उपासना कही गई है, उसका कोई अनिष्ट फल नहीं बतलाया गया है, नाम आदि उपासना के बजाय भूमा उपासना के फलाधिकार का उल्लेख मिलता है। जैसे की—"जो सत्य बोलते हैं वे अतिवादी हैं" भूमा विद्या के प्रतिपादक वाक्य से, नामादि की उपासना और उसका फल विवक्षित है। अन्यथा अतिशयित फल बतलाने वाला अतिवादी वाक्य भूमा विद्या का स्तुत्यवाक्य नहीं हो सकता। इसलिए समस्तोपासना ही न्याय है।

२४. शब्दादिभेदाधिकरणः—

नाना शब्दादिभेदात्।३।३।५६॥

इह ब्रह्मविद्याः सर्वाः ब्रह्मप्राप्तेकरूपमोक्षैकफलाः सद्विद्या-

ankurnagpal108@gmail.com

भूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशांडिल्यविद्यावैश्वानरविद्यानंदमय-विद्याक्षरविद्यादिकाएकशाखागताःशाखांतरगताश्चोदाहरणम्,अन्याः प्राणाद्येकविषयफलाश्च। किमत्र विद्यैक्यम् उत विद्याभेद इति संशय्यते ? अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थिते सति एकस्या दहरविद्यादिकायाः सर्ववेदांतप्रत्ययन्यायः। किं युक्तम् विद्यैक्यमिति, कुतः ? वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्, वेद्यं हि विद्याया रूपम्, अतोरूपैक्यात् विद्यैक्यमिति।

सद्विद्या–भूमाविद्या–दहरविद्या–उपकोसलविद्या–शांडिल्यविद्या–वैश्वानरविद्या–आनंदमयविद्या–अक्षरविद्या आदि सभी विद्याओं का एकमात्र फल, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष ही है। ये विद्यायें चाहे एक शाखागत हो या विभिन्न शाखागत हों, इस सूत्र में सभी पर विचार किया जायेगा। एक विषयक और एक फल वाली प्राण आदि पर भी विचार प्रस्तुत करेंगे। संशय करते हैं कि–ये विद्यायें एक हैं या भिन्न ? इनके परस्पर भेद का समर्थन होने से, दहर विद्या आदि प्रत्येक का सर्ववेदांत प्रत्यय ही न्याय्य है। कह सकते हैं कि–विद्यायें सब एक हैं, क्योंकि सबका उपास्य एक है, वेद्य ही तो विद्या का रूप होता है, इसलिए वेद्यैक्य होने से विद्यैक्य होगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–नाना इति। नानाभूता विद्याः, कुतः ? शब्दादिभेदात्–आदिशब्देनाभ्याससंख्यागुणप्रक्रिया नामधेयानि गृह्यन्ते, शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबंध भेदाः दृश्यन्ते, यद्यपि वेदोपासीतत्येत्यादयः शब्दाः प्रत्ययावृत्यभिधायिनः, प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषयाः, तथापि तत्प्रकरणोदित जगदेककारणत्वापहतपाप्मत्वादिविशेषणविशिष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्यबोधिनः प्रत्ययावृत्तिरूपाः विद्या भिन्दंति। ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसंबंध्युपासनविशेषाभिधायीनि न निराकांक्षाणि वाक्यानि प्रति–प्रकरणंविलक्षणविद्याभिधायीनीति निश्चीयते। अस्मिन्नर्थे–

ankurnagpal108@gmail.com

"शब्दान्तरे कर्म भेदः" इत्यादिभिः पूर्वकांडोदितैः सूत्रैः सिद्धेऽपि पुनरिह प्रतिपादनं वेदांतवाक्यानि अविधेयज्ञानपराणीति कुदृष्टि निरसनाय। अतो विद्याभेद इति स्थितम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "नाना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं विद्यायें भिन्न हैं, इनमें नामों का ही भेद है सूत्र में आदि शब्द से अभ्यास-संख्या-गुण-प्रक्रिया-नाम आदि अभिधेय हैं। शब्द भेद आदि के कारण, उपास्य के भेद के ग्राहक, अनुबंध का भी भेद देखा जाता है। यद्यपि "वेद" उपासीत'' आदि शब्द ज्ञानात्मक उपासना की पौनः पुन्यता के ही बोधक हैं। तथा-प्रत्यय भी ब्रह्म विषयक ही हैं, फिर भी विभिन्न प्रकरणों में कहे गए जगदेककारणता, निष्पापता आदि विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म विषयक, ज्ञानानुशीलन बोधक, ज्ञानवृत्ति स्वरूप वाक्य, विद्या में भेद कर देते हैं। ब्रह्म प्राप्ति रूप फल के संपादक, उपासना के बोधक, वाक्य प्रत्येक प्रकरण में, निराकांक्ष रूप से वर्णित हैं इसलिए प्रति प्रकरण में, एक विलक्षण विद्या की प्रतीति कराते हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड के "शब्द से कर्म भेद होता है'' इस सूत्र से उक्त विषय सिद्धान्त रूप से निर्णीत हो जाता है, फिर भी वेदांत वाक्यों में भिन्न विधि का विधान नहीं मिलता। इसलिए उक्त प्रसंग को उठाया गया, जिससे उक्त विषय में जो भ्रामक दृष्टिकोण है, वह ठीक हो जाय। इसलिये विद्याभेद ही निश्चित होता है।

२५. विकल्पाधिकरणः—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्।३।३।५७॥

ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्यादीनां नानात्वमुक्तम्, इदानीमासांविद्यानामेकस्मिन् पुरुषे प्रयोजनवत्वेन समुच्चयोऽपि संभवति। उत प्रयोजनाभावाद् विकल्प एव? इति विशये किं युक्तम्? समुच्चयोऽपि संभवतीति, कुतः? एकफलानां भिन्नशास्त्रार्थानपि समुच्चयदर्शनात्। दृश्यते हि एकस्यैव स्वर्गादिः

ankurnagpal108@gmail.com

साधनानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां तस्यैव स्वर्गस्य भूयस्त्वापेक्षयैकत्र पुरुषे समुच्चयः, एवमिहापि ब्रह्मानुभवभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि संभवतीति।

ब्रह्म प्राप्ति रूप फलवाली सद्विद्यादहरविद्या आदि की भिन्नता बतला दी गई। अब संशय होता है कि-एक ही पुरुष के लिए, इन विद्याओं के अनुष्ठान का प्रयोजन है या नहीं? यदि सब के अनुष्ठान का प्रयोजन नहीं है तो एक ही विद्या की साधना से कार्य चल जावेगा। कह सकते हैं कि-सभी उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि-भिन्न शास्त्र वाक्यों में सभी उपासनाओं का एक ही फल बतलाया गया है। जैसे कि-एक ही स्वर्गादि फल के साधन अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का अनुष्ठान, फल प्राप्ति के लिए करते देखा जाता है। वैसे ही ब्रह्मानुभूतिरूप फल की प्राप्ति के लिए सभी उपासनाओं का अनुष्ठान कर्त्तव्य हो सकता है।

सिद्धान्तः---एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-विकल्प एव-न समुच्चयः संभवतीति। कुतः? अविशिष्टफलत्वात्-सर्वासां हि ब्रह्मविद्यानामनवधिकातिशयानंद ब्रह्मानुभवः फलमविशिष्टं श्रूयते "ब्रह्मविदाप्नोति परम् "स एको ब्रह्मण आनंदः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिभ्यः। ब्रह्म हि स्वस्य परस्य च स्वयमनुभूयमानमनवाधिकातिशयानंन्दं भवति। स च तादृशो ब्रह्मानुभव एकयाविद्ययाऽवाप्यते चेत्-किमन्ययेति न समुच्चय संभवः स्वर्गादे हि देशतः कालतःस्वरूपतश्च परिमितत्वेन तत्र देशाद्यपेक्षया भूयस्त्वसंभवात्तदर्थिनः समुच्चयः संभवति, इह तु तद्विपरीत स्वरूपे ब्रह्मणि तन्न संभवति। सर्वाश्च विद्याः ब्रह्मानुभवविरोध्यनादि कर्माविद्यानिरसन मुखेन ब्रह्मप्राप्तिफला इत्यविशिष्टफलत्वात् सर्वासां विकल्प एव।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-किसी एक के ही अनुष्ठान का विधान है, सबके अनुष्ठान का नहीं। सभी उपासनाओं का एकसा ही फल होता है, अर्थात् सभी ब्रह्मविद्याओं का अत्यधिक आनंदब्रह्मानुभव रूप फल, सामान्य रूप से बतलाया गया है। "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है" वह ब्रह्मज्ञ और निष्काम श्रोत्रिय का आनंद है "दिव्यदर्शी पुरुष जब, सुवर्णवर्ण वाले जगत्कर्त्ता और वेद प्रसू पुरुष जगदीश्वर को देख लेता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप से छूटकर निर्दोष होकर, अनिर्वचनीय सर्वोत्तम ब्रह्म की समता प्राप्त करता है।" इत्यादि ब्रह्म स्वयं या दूसरे के द्वारा अनुभूत होने पर अतिशय आनंद प्रदान करता है। उसका वैसा अनुभव जब एक ही विद्या के अनुष्ठान से हो जाता है तो अनेक विद्याओं की उपासना की आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध होता है कि—सभी की उपासना संभव नहीं है। स्वर्ग आदि तो देश काल स्वरूप से परिमित हैं, इसलिए देश कालादि की तरह उनमें वृद्धि ह्रास भी संभव हैं, इसलिए अनेक कर्मानुष्ठानों की आवश्यकता होती है, किन्तु अपरिमित ब्रह्म में तो वैसी संभावना नहीं है। जब सभी विद्यायें, ब्रह्मानुभूति के प्रतिबंधक अज्ञान का निवारण कर ब्रह्मप्राप्ति कराती हैं तो सभी की उपासना के अनुष्ठान का प्रयोजन ही क्या है? अपितु किसी एक के अनुष्ठान से ही फलावाप्ति हो जायगी।

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाविद्याः स्वर्गादिफलकर्मवद् यथेष्टं विकल्पेरन्, समुच्चीयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षाविभवात्। तदाह—

जो विद्यायें, ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न काम्यफल की साधिका हैं, वह तो इच्छानुसार समुच्चय रूप से या वैकल्पिक रूप से अनुष्ठेय हो सकती हैं क्यों कि—उनका तो परिमित फल होता है, अतः उनमें बाहूल्य भी अपेक्षित हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्।३।३।५८॥

अपरिमित फलत्वाभावादित्यर्थः।

काम्य विद्याओं का अनुष्ठान, समुच्चय या विकल्प किसी भी प्रकार किया जा सकता है, क्यों कि इनके अनुष्ठान में अपरिमित फलता का अभाव रहता है। अर्थात् अधिक फल की इच्छा हो तो समुच्चयानुष्ठान करना चाहिए अन्यथा वैकल्पिक करना चाहिए।

२६. यथाश्रयभावाधिकरण:——

अंगेषु यथाश्रयभावः ।३।३।५६।।

उद्‌गीथादिक्रत्वंगेष्वाश्रिताः "ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत्" इत्यादिका विद्याः किमुद्‌गीथादिवत् क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः, उतगोदोहनादिवत् पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये, नियमेनोपादेयाः, इति युक्तम्।

उद्‌गीथ आदि, यज्ञांगाश्रित अनेक विद्यायें हैं, संशय होता है कि—उद्‌गीथ की तरह, वो सब भी, यज्ञोपकारक रूप से प्रत्येक यज्ञ में ग्राह्य होंगी, अथवा गोदोहनन्याय की तरह, इच्छानुसार ग्राह्य होंगी? इस पर कहते हैं कि—सभी में ग्राह्य करना ही युक्ति संगत है।

ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलम्" इत्यत्र। सत्यम्—तदेव दृढयितुं कैश्चिल्लिंगदर्शनैः युक्तया चाक्षिप्यते। तत्र हि—"तेनोभौ कुरुतः इत्यनियम दर्शनात् पृथक्फलत्वमुक्तम्, उपासनाश्रयभूतोद्‌गीथादिवदुपासनानामप्यंगतयोपादाननियमे बह्वो हेतव उपलभ्यंते नहि अत्र "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत"इत्यादिवदुपासना विधिवाक्येफलसंबंधः श्रूयते। "उद्‌गीथमुपासीत्" इत्युद्‌गीथादिसंबंधितयैवोपासनं प्रतीयते।

जब "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र में बतला चुके हैं कि—पुरुषार्थ साधन में, सभी विद्याओं का साधन नियमित नहीं है, तब उक्त बात

ankurnagpal108@gmail.com

कैसे संभव ? ऐसा संशय करना ठीक ही है, अब उसी बात को दृढ़ करने के लिए, विरुद्ध तर्क उपस्थित करके आक्षेप कर रहे हैं। उक्त सूत्रों में तो केवल "तेनोभौ कुरुतः" इस श्रुति की सहायता से, उपासना का अनियम बतलाते हुए, पृथक् फलता का निर्णय किया गया है। परन्तु इस प्रसंग में तो– उपासना की आश्रय उद्गीथ आदि की तरह जब, अन्य उपासनायें भी अंगमात्र ही हैं तब उनको ग्रहण करने में अनेक हेतु मिलते हैं। "पशुसमृद्धि की कामना से गोदोहन करके चरुपाक करना चाहिये" इत्यादि में जैसा काम्य पशु रूप फल विशेष का निर्देश है, वैसी यहाँ तो किसी विशेष फल के निर्देश की बात है नहीं। "उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में उद्गीथ संबंधी उपासना ही प्रतीत होती है।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इति वर्त्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद हि फलसंबंधो ज्ञायते, स्ववाक्येनै वाव्यभिचरितक्रतुसंबंध्युद्गीथादिसंबंधेन निर्ज्ञातक्रत्वंगभावस्य वाक्यांतरस्थवर्त्तमानफलसंबंधनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात् अपापश्लोक श्रवणादिवत्। अतो यथोद्गीथादय उपासनाश्रयाः क्रत्वंगतया प्रयोग विधिना नियमेनोपादीयन्ते, यथातदाश्रिताश्चोपासनास्तन्मुखेन क्रत्वंगभूता इति नियमेनोपादेया एव।

"श्रद्धा और विज्ञान के साथ जो विद्या का अनुष्ठान करता है वही प्रबलतम होता है" वर्त्तमानता मात्र के बोधक इस अन्य वाक्य से भी, उपासना की सफलता ज्ञात होती है, इसलिए उपासना विधायक वाक्य में, केवल यज्ञ संबंधी उल्लेख होने से ही उपासना की यज्ञांगता ज्ञात होती है, अन्य वाक्यों में जो वर्तमान कालीन फल संबंधी उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही, अपापश्लोक श्रवण की तरह अर्थवाद मात्र है। उद्-गीथ उपासना के आश्रय, उद्गीथ आदि जैसे–प्रयोग विधि के अनुसार नियमित यज्ञांग माने जाते हैं, वैसे ही, तदाश्रित उपासनायें भी नियमित रूप से यज्ञांग हैं।

शिष्टेश्च ।३।३।६०।।

शिष्टिः शासनं, विधानमित्यर्थः। "उद्गीथमुपासीत्"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युद्गीथांगतयोपासनविधानाच्चोपादान नियमः । "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवद्विधिवाक्येऽधिकारान्तराश्रवणादुद्गीथांग भाव एव हि विधेय इति गम्यते ।

शिष्टि अर्थात् शासन या विधान से भी उपासना के नियम की सिद्धि होती है। "उद्गीथमुपासीत" श्रुति में उद्गीथांगरूप से उपासना का विधान बतलाया गया है। "पशु की कामना से गोदोहन द्वारा चरु प्रस्तुत करना चाहिए" इत्यादि में जैसे अन्य क्रिया के अधिकारी से संबंधित गोदोहनाधिकार कहा गया है, वैसा यहाँ तो है नहीं, इससे निश्चित होता है कि— उक्त उपासना, उद्गीथांग रूप से ही विधेय है।

समाहारात् ।३।३।६१।।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" इत्युपासनस्य समाहार नियमो दृश्यते। दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथं। वेदनहानावन्येन समाधानं ब्रुवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ।

"होतृ षदन से दुरुद्गीथ को परिपूर्ण करता है" इत्यादि श्रुति से उपासना के ग्रहण की आवश्यकता परिलक्षित होती है। दुरुद्गीथ का तात्पर्य है, उपासना विहीन उद्गीथ। उक्त श्रुति में उपासना के अभाव में, अन्य के द्वारा भी परिपूर्ण करने का उपदेश देकर, उस उपासना की अवश्यग्रहणीयता दिखलाई गई है।

गुणसाधारण्य श्रुतेश्च ।३।३।६२।।

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य "तेनेयंत्रयी विद्या वर्त्तते, ओमित्याश्रवत्योमितिशंसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनसमाहारो गम्यते । "तेन" इति प्रकृतिपरामर्शात् सोपासन एव प्रणवः सर्वत्र संचरति । अत उपासनस्य प्रणवसहभाव नियमदर्शनाच्चोद्गीथाद्युपासनामुद्गीथादिवन्नियमेनोपादानम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

"उसके द्वारा ही ये वेद विद्या प्रवृत्त होती है, जो ॐ कहकर ही हो सुनता है, ॐ कहकर ही प्रशंसा करता है, ॐ कहकर ही उद्‌गान करता है" इत्यादि में—उपासना के आश्रय रूप प्रणव का समानाधिकरण्य दिखलाया गया है जिससे उपासना की अनुवृत्ति ज्ञात होती है। वाक्य के "तेन" पद से, प्रस्तावित विषय से संबद्ध उपासना के साथ प्रणव की सर्वत्र अनुवृत्ति ज्ञात होती है, केवल प्रणव की ही नहीं। प्रणव सहित उपासना साहचर्य के नियम से ज्ञात होता है कि–उद्‌गीथ आदि की तरह उपासना का भी हर जगह ग्रहण होगा।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते---

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।३।३।६३॥

न चैतदस्ति, यदुद्‌गीथाद्युपासनानां क्रतुषूद्‌गीथादिवदुपादान नियमः, इति। कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः, उद्‌गीथांग भावाश्रुतेरित्यर्थः। अंग भावे हि सहभाव नियमो भवति। यद्यपि "उद्‌गीथमुपासीत्" इत्यस्मिन् पद समुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते तथाऽपि तदनंतरमेव "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाःक्रतु वीर्यवत्तरत्वं प्रतिसाधनभावः प्रतिपाद्यते। तेन क्रतुफलात्पृथगभूत फलसाधनभूता विद्या "उद्‌गीथमुपासीत्" इति कर्त्तव्यतया विधीयते। क्रतुफलात् पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगतस्योपासनस्य क्रत्वंगभूतोद्‌गीथांगतया विनियोगो नोपपद्यते। अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्निहित उद्‌गीथ आश्रयमात्रं भवति।

यज्ञ में उद्‌गीथ आदि क्रिया का जैसा अवश्य ग्रहणीयता का नियम है, उद्‌गीथ आदि उपासना में भी, वैसा नियम नहीं है। ऐसी कोई सत् सहभाव वाली श्रुति नहीं मिलती, अर्थात्–उपासना भी,

ankurnagpal108@gmail.com

उद्गीथ आदि की तरह यज्ञांग है, ऐसी कोई श्रुति नहीं मिलती। अंग भाव होने पर ही सहभाव का नियम होता है। यद्यपि "उद्गीथमुपासीत्' वाक्य में अन्य किसी का अधिकार प्रतीत नहीं होता, फिर भी इस वाक्य के बाद ही "विद्यापूर्वक जो कुछ किया जाता है, वही बलवत्तर होता हैं" इस वाक्य में, विद्या को, यज्ञ से अधिक बलवती रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि श्रुति में यज्ञ फल से विशेष अधिक फल साधन के लिए, विद्या की कर्त्तव्यता बतलाई गई है। यज्ञ फल से भिन्न ही साधक रूप से जब उपासना की प्रतीति होती है, तब उदगीथांग रूप से उस उपासना का प्रयोग कदापि संगत नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि–उपासना मात्र, एक आश्रय की अपेक्षा करती है, उद्गीथ उपासना में भी एक आश्रय आवश्यक है। सन्निहित उद्गीथ ही उपासना मात्र का आश्रय स्थानीय सिद्ध होता है।

उद्गीथश्च क्रत्वंगभूत इति क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रये उपासने क्रत्वाधिकारिण एव क्रतोवीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिदमधिकारान्तर-मिति न क्रतुषु तदुपादाननियमः। वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफलस्य प्रबलकर्मान्तरफलेनाप्रतिबंधं इत्युक्तम्। क्रतोरविलंबितफलत्वमि-त्वर्थः। पर्णतादीनां तु "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापश्लोक श्रवणादिफलं प्रतिसाक्षात्साधनभावो न श्रुत इति क्रत्वंगभूतजुह्वाद्यंगतया विनियोगाविरोधात्तदंगभूतानां फलांतरसाधनभावकल्पनानुपपत्तो-स्तत्र फलश्रुतिरर्थवादमात्रं स्यात्।

उद्गीथ, यज्ञ का अंगरूप है, यज्ञ में जिसका अधिकार है उद्गीथ साधना में भी उसी का अधिकार है, किन्तु उद्गीथ आश्रित उपासना में, अधिकार का कोई नियम नहीं है। यज्ञ का अधिकारी पुरुष यदि चाहे कि, मेरा यज्ञ अधिक बलवत्तर हो ऐसी इच्छा करने पर ही वह उपासना का अधिकारी हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। उद्गीथ और उपासना दोनों का एक ही–अधिकारी नहीं हो सकता, ऐसी अधिकार की पृथकता

ankurnagpal108@gmail.com

के आधार पर, उद्गीथ आदि की उपासना की अवश्यकर्त्तव्यता की व्यवस्था नहीं की जा सकती। अन्य किसी प्रबल कर्म फल के द्वारा, उपस्थित कर्मफल में बाधा न होना ही" प्रबलता है, अर्थात् अनुष्ठित यज्ञ फल की प्राप्ति में विलम्ब न होना ही प्रबलता है। यज्ञांग "जुहू" की पर्णमयता के साथ विद्या की समता नहीं की जा सकती क्योंकि–"यदेव विद्यया करोति" इत्यादि वाक्य से जैसी प्रबलता रूप पृथक् फलसाधनता बतलाई गई है, जुहू की पर्णमयता में वैसी, पापश्लोक श्रवणाभाव के फलस्वरूप कोई विशेषता नहीं कही गयी है। यज्ञांग जुहू की पर्णमयता के विनियोग में किसी प्रकार की बाधा न होने से, फलान्तर साधनता की कल्पना करना संभव नहीं है। इसलिए उक्त फल श्रुति को अर्थवाद मानना चाहिए।

दर्शनाच्च ।३।३।६४।।

दर्शयति च श्रुतिरुपासनोपादानानियमम् "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" इति ब्रह्मणो वेदनेन सर्वेषां रक्षणं ब्रुवती। उद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमे सत्येतदुपपद्यते। अनेन लिंगेन पूर्वोक्तानां समाहारादिलिंगानां प्रायिकत्वमवगम्यते। अतोऽनियम एवेति स्थितम्।

"ऐसा ज्ञान संपन्न ब्रह्मा ही, यज्ञ यजमान और समस्त होताओं की सब प्रकार से रक्षा करता है" इत्यादि श्रुति ब्रह्म ज्ञान से ही सब की रक्षा बतलाती है। इससे उद्गाता आदि के ज्ञान के अनियम की प्रतीति होती है, ऐसा मानने से ही उक्त प्रसंग की संगति हो सकती है। इस हेतु वाक्य से ज्ञात होता है कि—पहिले जो समाहार आदि हेतु बतलाए गए हैं, वे प्रायिक मात्र हैं आवश्यक नहीं हैं। इससे अनियम का सिद्धान्त स्थिर होता है।

तृतीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

तृतीय–अध्याय

चतुर्थ पाद

१ पुरुषार्थाधिकरणः–

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१॥

गुणोपसंहारानुपसंहारफला विद्यैक्यत्व नानात्व चिन्ताकृता । इदानीं विद्यातः पुरुषार्थः, उत विद्यांगकारकर्मणः इति चिन्त्यते । किं युक्तम्? अतः विद्यातः पुरुषार्थ, इति भगवान बादरायणो मन्यते, कुतः? शब्दात्–दृश्यते हि औपनिषदः शब्दो विद्यातः पुरुषार्थं ब्रुवन "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात । तमेवं विद्वानमृतइह भवति । नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।" यथा नद्यः स्यन्दमानः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथाविद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्यादि ।

उपास्य गुणों का उपसंहार कैसे किया जा सकता है कैसे नहीं, इसके निरूपण के लिए तृतीय पाद में विद्या की एकता और भिन्नता के विषय में विचार किया गया । अब विचार किया जाता है कि–विद्या से पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है अथवा विद्यांग कर्म से होता है ? विद्या से पुरुषार्थ होता है–ऐसा भगवान बादरायण का मत, शास्त्र के आधार पर है । उपनिषदों के वचन विद्या से पुरुषार्थ का उल्लेख करतेहैं–"ब्रह्मविद ही परमतत्त्व प्राप्त करते हैं" तम अज्ञान)से अतीत आदित्यवर्ण (ज्योतिर्वर्ण) इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ, उसे जो जानता है वह इस लोक में अमृत हो जाता, है मुक्ति लाभ का और कोई उपाय नहीं है "बहती हुई नदियाँ जैसे नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी, नामरूप को छोड़कर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं" इत्यादि ।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते

इस पर पूर्वपक्ष वाले उपस्थित होते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।।

नैतदेवम्—यद्विद्यातः पुरुषार्थावाप्तिः शब्दावगम्यते—इति । न ह्येषः "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"इत्यादि शब्दो वेदनात् पुरुषार्थावाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्यात्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादनपरत्वात् । अतः कर्त्तुः संस्कार द्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र फलश्रुतिः अर्थवादमात्रम्, यथाऽन्येषु द्रव्यादिषु—इति जैमिनिराचार्यो मन्यते तदुक्तं द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।"

शास्त्रों में जो विद्या से पुरुषार्थ प्राप्ति की बात कही गई है, वह उक्त प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा आप समझ रहे हैं । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वचन उपासना से पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं बतलाते अपितु, कर्म कर्त्ता द्वारा किए गए आत्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से-पुरुषार्थ प्राप्ति बतलाते हैं । कर्त्ता के संस्कार के द्वारा जब विद्या,यज्ञांग रूपहै तब विद्या साध्य मोक्ष प्राप्ति की प्रशंसा, केवल अर्थवाद मात्र है, जैसे कि–अन्यशास्त्रीय फल श्रुतियां अर्थवाद हैं । ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ; वे कहते हैं कि–"यज्ञीयद्रव्यगुण और संस्कार रूप कर्मों के विषय में जो फल श्रुति है, वह परार्थ होने से अर्थवाद मात्र है"

ननु च कर्मसु कर्त्तुर्जीवादन्यो मुमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदांतेषु वेद्य उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितम् "नेतरोऽनुपपत्तेः" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्" इत्येवमादिभिः सूत्रैः, तदेव ब्रह्म तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्येन जीवादनतिरिक्तमित्येतदपि "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्येवमादिभिर्निरस्तम् सामानाधिकरण्य निर्देशश्च "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वंखल्विथं ब्रह्म "इति चेतनाचेतन साधारण:" य: पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनितिष्ठन् इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबंधन इति-"अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:"इत्यादिभिरुपपादितं, तत्कथंकर्मसु कर्त्तुरात्मनो याथात्म्योपदेशपरा वेदांत शब्दा इति विद्याया: कर्मांगत्वं प्रतिपाद्यते ?

(वाद) वेदांत शास्त्र, कर्त्ता जीव से पृथक् पदार्थ को ही, मुमुक्षुओं के लिए पुरुषार्थ बतलाते हैं, ऐसा 'नेतरोऽनुपपत्ते:" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीर:" इतरपरामर्शात्" इत्यादि सूत्रों में विवेचन हो चुका है। इसके बाद अभेद सूचक "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य के अनुसार, ब्रह्म से जीव की अनतिरिक्तता या जीवस्वरूपता की संभावना का भी "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" आदि सूत्रों में निराकरण हो चुका है। तथा "यह सब आत्म्य है" सब कुछ ब्रह्म है' इत्यादि से जड़चेतन की ब्रह्मता एवं "जो पृथ्वी में स्थित है "जो आत्मा में स्थित है" इत्यादि-से उन उन आकारों में आत्मरूप से अभेद बोधक स्थिति सामानाधिकरण्य के निर्देश के रूप में "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:" इत्यादि सूत्र में बतलाई गई। तब यहाँ-कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीव के यथार्थ स्वरूप के उपदेश में वेदांत वाक्यों का तात्पर्य बतलाते हुए, विद्या की कर्मांगता का कैसे प्रतिपादन करते हो ?

उच्यते-वेदांतवाक्येष्वेव विद्याया: कर्म प्राधान्यंसूचयद्भिर्लिंगै: तदुपवृंहित सामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदांतशब्दा: देहातिरिक्त जीव स्वरूपयाथात्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनोयमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्राय: ।

इसका उत्तर पूर्वपक्षवाले देते हैं कि-वेदांत वाक्यों में ही विद्या की कर्म प्रधानता को बतलाने वाले लिंग (चिन्ह) हैं, जिनसे कर्म की अपेक्षा विद्या की प्रधानता सूचित होती है, तथा सामानाधिकरण्य के निर्देश से अनिच्छा होते हुए भी स्वीकारना पड़ता है कि-देहातिरिक्त जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करना ही वेदांत वाक्यों का मुख्य तात्पर्य है।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च कर्त्तृसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रत्वनुप्रवेशो न शक्यते वक्तुं लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाव्यभिचरित क्रतुसंबंधित्वात् ।

(वाद) यज्ञादि कर्त्ता जैसे वेदोक्त क्रिया का निर्वाह करता है वैसे ही व्यावहारिक क्रिया का भी निर्वाह करता है; यज्ञ के ही साथ उसका अव्यभिचारी संबंध नहीं रहता। इसलिए यह नहीं कह सकते कि कर्त्ता की संस्कार रूप विद्या, यज्ञांग है।

नैवम्—लौकिकस्य कर्मणः कर्त्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽप्युपपत्तेर्देहातिरिक्तनित्यात्मस्वरूपस्य क्रतावेवोपयोगात्तत्स्वप्रतिपादनमुखेन क्रत्वनुप्रवेशो न विरुध्यते। अतो विद्यायाः क्रतुशेषत्वान्नातः पुरुषार्थः।

(विवाद) उक्त आपत्ति भ्रामक है; जीवात्मा देह वाला होकर ही, लौकिक क्रिया का कर्त्ता हो सकता है किंतु आत्मा में जब तक नित्य बुद्धि नहीं होगी तब तक, उसकी पारलौकिक फलसाधक वेदोक्त क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यज्ञादि क्रियाओं में-देह से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होना आवश्यक है। इस प्रकार के विवेचन से, यज्ञान्तर्भाव माना जा सकता है। इससे यह निश्चित होता है कि-यज्ञांग होते हुए भी विद्या से पुरुषार्थ सिद्धि नहीं हो सकती।

कानिपुनस्तानिलिंगानि, यदुपवृंहितसामानाधिकरण्य निर्देशेन वेदांतशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णीयन्ते। तत्राह—

वे लिंग कौन से हैं, जिनसे वेदांत वाक्यों की जीवस्वरूप परकता अवधारित होती है? उसी का उत्तर देते हैं—

आचार दर्शनात् ।३।४।३॥

ब्रह्मविदांप्राधान्येन कर्मस्वेवाचारो दृश्यते अश्वपतिः केकयः किल आत्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानृषीन् प्रत्याह—"यक्ष्यमाणो

ankurnagpal108@gmail.com

ह वै भगवंतोऽहमस्मि" इति । तथा जनकादयो ब्रह्मविदग्रेसराः किर्मनिष्ठाः स्मृतिषु दृश्यंते "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः "इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः" इति । अन्ये ब्रह्मविदां कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्त्तुस्वरूपवेदन रूपत्वेन कर्मांगत्वमेवेति न विद्यातः पुरुषार्थः ।

ब्रह्म वेत्ताओं के आचार में, कर्म की ही प्रधानता देखी जाती है, आत्म तत्त्वेच्छु ऋषियों से कहते हैं-"भगवन् ! मैं इस समय यज्ञानुष्ठान में संलग्न हूँ ।" इसी प्रकार ब्रह्म वेत्ताओं में अग्रगण्य जनक आदि को भी, स्मृतियों में कर्मनिष्ठ बतलाया गया है "जनक आदि ने कर्म से संसिद्धि प्राप्त की" ज्ञाननिष्ठ होते हुए भी उन्होने अनेक यज्ञ किए" इत्यादि । ब्रह्म वेत्ताओं में भी कर्म की स्वरूपानुभूति रूप विद्या, कर्मांग ही है, विद्या से पुरुषार्थ असंभव है ।

लिंगमिदं, प्राप्तिरुच्यतामित्यत्राह—

जो विद्या की कर्मांगता बतलावे वही लिंग है, अब उसके उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।।

श्रुतिरेव हि विद्यायाः कर्मांगत्वमाह—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति । नेयं श्रुतिः प्रकरणादुद्गीथमात्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्याः विद्यामात्र विषया हीयं श्रुतिः ।

श्रुति में ही विद्या की कर्मांगता दिखलाई गई है-"विद्या, श्रद्धा और ज्ञान के सहयोग से जो कर्म किया जाता है वही प्रबलतम होता है" उदगीथ प्रकरण में पठित होने से यह श्रुति केवल उद्गीथ से ही संबद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते, प्रकरण से श्रुति अधिक बलवती होती है "यदेव विद्यया करोति" श्रुति विद्यामात्र की विषय है, केवल उद्गीथ की ही नहीं ।

ankurnagpal108@gmail.com

समन्वारम्भणात् ।३।४।५॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यं च दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्मांगत्वे सत्येव भवति ।

"विद्या और कर्म व्यक्ति का अनुगमन करते हैं" इत्यादि श्रुति में विद्या और कर्म का साहचर्य दीखता है। इस साहचर्य के वर्णन से भी विद्या की कर्मांगता सिद्ध होती है।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६॥

विद्यावतः कर्म विधानात् विद्या कर्मांगत्वमित्यनगम्यते "आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्यकुटुंबे शुचौदेशे" इत्यादौ। "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधदर्थावबोधपर्यन्ताध्ययनवत् एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यन्तं हि अध्ययनमिति स्थापितम् अतो ब्रह्मविद्याऽपि कर्मसु विनियुक्तेति न पृथक् फलायावकल्पते ।

"आचार्य कुल से विधि पूर्वक वेद पढ़कर-गुरु संबंधी कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त कर पवित्र कुटुम्ब में प्रवेश करता है" इत्यादि में विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए कर्म का विधान बतलाया गया है-जिससे विद्या की कर्मांगत सिद्ध होती है। "वेदमधीत्य" पद से वेदाध्ययन करने वाले के भी, कर्म का विधान वेदार्थावगति तक बतलाया गया है। अर्थावबोध तक ही अध्ययन कहा गया है, इसलिए ब्रह्म विद्या भी कर्म से अलग रहकर पृथक् फल की साधिका नहीं हो सकती।

नियमात् ।३।४।७॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यात्मविदः पुरुषायुजस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनियोगात् कर्मण एव फलमित्यवगम्यते विद्या तु कर्मांगमिति ।

ankurnagpal108@gmail.com

इसलिए भी विद्या से पुरुषार्थ संभव नहीं है कि–"कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की आकांक्षा करते हैं" इत्यादि श्रुति आत्मज्ञ पुरुष की, आयुपर्यन्त नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान में नियुक्ति बतलाती है। जिससे, कर्म से ही फलावाप्ति की प्रतीति होती है, विद्या से नहीं। विद्या तो कर्मागं मात्र है।

सिद्धांत—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३।४।८॥

तु शब्दात् पक्षो व्यावृतः, विद्यात एव पुरुषार्थः, कुतः ? अधिकोपदेशात्—कर्मसु कर्त्तुर्जीवाद् हेयप्रत्यनीकानवधिकातिशया-संख्येयकल्याणगुणाकरत्वेनाधिकस्यार्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेद्यतयोपदेशात् भगवतो बादरायणस्य विद्यातः फलमित्येवमेव मतम्।

तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या से ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है, अधिकता के उपदेश से ऐसा ही निश्चित होता है। कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीवात्मा से अधिक, स्वतंत्र—उत्तम, सीमा और संख्या से रहित, अति कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म को ही वेद्य कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि–उनकी प्राप्ति उपासना से ही होती है, ऐसा भगवान बादरायण का मत है।

लिगानि तिष्ठन्तु, वेद्यतयोपदेशस्तु तावत्कर्त्तुः प्रत्यगात्मनोऽधिकस्यैव। कथम् ?त द्दर्शनात्–प्रत्यगात्मन्यशुद्धे शुद्धेऽप्यसंभाव-नीयानंतगुणाकरस्य वेद्यस्य निरस्तनिखिलहेय गंधस्य स्वसंकल्प-कृत जगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छे-द्यानन्दस्य जीवाधिपस्य कृत्स्नस्य प्रशासितुः परस्य ब्रह्मणो वेदनोप-देशवाक्येषु दर्शनात् "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये-

ankurnagpal108@gmail.com

ति तत्तेजोऽसृजत" यः सर्वज्ञः सर्वविद् "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "स एको ब्रह्मण आनंदः" यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह-आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारणः "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्नि-श्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः" इत्यादिषु । तस्माद् वेदनोपदेश शब्देषु कर्त्तुः प्रत्यगात्मनः स्वद्योतकल्पस्याविद्यादिहेयसंबंध योगस्य गंधोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृ-तत्वं तत्र तत्र श्रूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थ इति सुष्ठूक्तम् ।

विद्या की कर्मांगता बतलाने वाले लिंगों की बात छोड़िये वेद्यरूप से जिसका उल्लेख है, वह जीवात्मा से अधिक ही है- जैसा कि—"वह निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्य काम, सत्य संकल्प है" उसने इच्छा की बहुत होकर व्यक्त हो जाऊँ "उसने तेज की सृष्टि की" जो सर्वज्ञ और सर्वविद है "पर की ज्ञान-बल-क्रिया आदि स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं ' वह एक ब्रह्म का आनंद है'' जहाँ से वाणी मन सहित होकर लौट आती है ऐसे आनंद ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता ''वही सर्वेश्वर भूताधिपति भूपाल सबका विधारक सेतु है "वह कारणों का भी कारण, स्वामियों का भी स्वामी है, उसका कोई जनक या स्वामी नहीं है'' हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र स्थित हैं" इसी के भय से वायु चलता है। सूर्य अग्नि चन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है'' इत्यादि से बद्धमुक्त जीवात्मा में असंभव, हीनता से रहित, संकल्प मात्र से सृष्टि स्थिति संहारात्मक लीलामय, सर्वज्ञता, सर्व शक्ति संपन्नता अवाङ्मनस गोचारता, असीम आनन्दरूपता सर्वशासकता, जीवाधिपत्य, आदि वेद्य परब्रह्म की बतलाई गई विशेष-ताओं से निश्चित होता है। उक्त उपासनोपदेशक वाक्यों में कर्त्ता के

ankurnagpal108@gmail.com

स्वरूप जीवात्मा का, जो कि परमात्मा के समक्ष खद्योत-के तुल्य है, और अविद्या आदि दोषों वाला है, कहीं नाम भी नहीं है। परब्रह्म विषयक विद्या से, जो अनेक स्थानों में ब्रह्म प्राप्ति की बात कहीं गई है, वही विद्या का फल है, इसलिए विद्या से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यही मानना युक्ति संगत है।

लिंगान्यपि निरस्यंते

लिंगों का भी निराकरण करते हैं।

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।९॥

यदुक्तं ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद् विद्या-कर्मांगमिति, तत्र विद्यायाऽनंगत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनैकांतिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात्। दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्मत्यागः "ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादौ। अतोब्रह्मविदां कर्मत्याग दर्शनान्न विद्या कर्मांगम्। कथमिमुपपद्यते ब्रह्मविदांकर्मानुष्ठानमननुष्ठानंच? फलाभिसंधिरहितस्य यज्ञादिकर्मणोब्रह्मविद्यांगत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुपपद्यते। वक्ष्यति च–सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति। फलार्थस्य तस्यैव यज्ञादेः कर्मणो मोक्षैकफलब्रह्मविद्याविरोधित्वत्तस्याननुष्ठानदर्शनमुपपन्नतरम्। विद्यायाः कर्मांगत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते।

जो यह कहा कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान देखा जाता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह बात भी असंगत है, विद्या की अनंगता में भी तुल्य आचार देखा जाता है, अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का जो कर्मानुष्ठान देखा जाता है वह अनैकान्तिक नहीं है, उनमें कर्मानुष्ठान का अभाव भी पाया जाता है "कावषेय ऋषि कहते हैं कि–"किसके लिए अध्ययन करें और किसके लिए यज्ञ करें" इत्यादि से–ब्रह्मवेत्ताओं का कर्म के प्रति उपेक्षा भाव निश्चित होने से विद्या कर्मांग नहीं है यह भी निश्चित हो

ankurnagpal108@gmail.com

जाता है। प्रश्न होता है कि–ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग दोनों कैसे संभव हैं? सो फलाकांक्षारहित यज्ञादि कर्म ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं, इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, ऐसा ही "सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" सूत्र में सूत्रकार ने सिद्ध किया है। यज्ञादि क्रियायें सकाम होने से ही मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्याओं से विरुद्ध है इसीलिए उनका त्याग होता है, यदि विद्या को कर्मांग मानें तो कर्म का त्याग नहीं हो सकता।

यदुक्तं श्रुत्यैव विद्यायाः कर्मांगत्वमवगम्यते–तत्राह–जो यह कहा कि–श्रुति से ही विद्या की कर्मांगता ज्ञात होती है। उसका उत्तर देते हैं–

असार्वत्रिकी ।३।४।१०।।

न सर्व विद्याविषयेयं श्रुतिः, अपितूद्गीथविद्याविषयैव "यदेव विद्यया करोति" इति यच्छब्दस्यानिर्धारित विशेषस्य "उद्गीथमुपासीत्" इति प्रस्तुतोद्गीथविशेष निष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद् विद्ययेति सम्बध्यते, यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमिति विद्यया क्रियमाणं यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते।

उक्त श्रुति-सभी विद्याओं से संबंधित नहीं है, अपितु उद्गीथ विद्या विषयक ही है "यदेव विद्यया करोति" में यत् शब्द अविशेष भाव से प्रयुक्त हुआ है–"उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में प्रस्तुत–उद्गीथ विशेष की निष्ठा निश्चित होती है। "यत्करोति" का अर्थ "वह विद्या के साथ करता है" ऐसा नहीं है, अपितु "विद्या के साथ जो करता है वही प्रबल-तम होता है" इतना अर्थ है विद्या के साथ किये जाने वाले कर्म की ही यत् शब्द से निर्दिष्ट वीर्यवत्तरता कही गई है।

यच्चेदमुक्तं "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्मांगमिति–तत्राह–

और जो यह कहा कि–"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" वाक्य में

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या और कर्म का साहचर्य दिखलाया गया है, इसलिए विद्या कर्मांग है। इसका निराकरण कहते हैं—

विभागः शतवत् ।३।४।११ ॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" यत्त्वोक्तेन न्यायेन विद्याकर्मणोर्भिन्नफलत्वाद् विद्यास्वस्मैफलाय समन्वारभते, कर्म च स्वस्मै फलायेति विभागो दृष्टव्यः। शतवत्—यथाक्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेतोत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतं, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते तथेहापि।

"विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं" इत्यादि से उपरोक्त नियमानुसार विद्या और कर्म का भिन्न फल समझना चाहिए। विद्या अपने फल प्रदान के लिए अनुगमन करती है और कर्म अपने फल प्रदान के लिए ऐसा विभाग है। जैसे कि खेत और रत्न के लिए दो सौ मुद्रा ले जाने वाला एक सौ से रत्न और एक सौ से क्षेत्र खरीदता है; वैसी ही उक्त व्यवस्था भी है।

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविद्यानादविद्याकर्मांगम्-इतिनैतद्युक्तम्, "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनमात्रवतो विधानात्। न चाध्ययन विधिरेवार्थबोधे प्रवर्त्तयति आधानवदध्ययनस्याक्षरराशि ग्रहणमात्रे पर्यवसानात्। गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्मविवोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयफले तदर्थविचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवर्त्तते ततः कर्मार्थी कर्मज्ञाने प्रवर्त्तते, मोक्षार्थी च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्मांगम्। यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थविबोधे प्रवर्त्तयति, तथापि न विद्या कर्मांगम् अर्थज्ञानादर्थांतरत्वाद् विद्यायाः। यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपविज्ञानात् फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्, तथाऽर्थज्ञानरूपात्ब्रह्मस्वरूप विज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानोपासनादि

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दवाच्या पुरुषार्थसाथनभूता विद्येति न तस्याः कर्म संबंधगंधो विद्यते ।

जो यह कहा कि–विद्वान के लिए भी कर्म का विधान मिलता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह भी असंगत बात है, "वेदमधीत्य" में केवल अध्ययन वाले व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान किया गया है। केवल विधिपूर्वक अध्ययन ही तो अर्थबोध करा नहीं सकता। अक्षर राशि के अभ्यास को ही वेदाध्ययन कहते हैं, अर्थात् वेदाध्ययन से, केवल गुरु के निकट रहकर वैदिक अक्षर की प्राप्ति की बात ही सामने आती है। अर्थज्ञान भी हो जाता हो ऐसी बात निश्चित नहीं होती। वेदाध्ययन से कर्म और उसके फल के निर्देश की जानकारी मात्र होती है, कर्म और कर्मफल के निर्णय के लिए तो वेदार्थ के विचार की आवश्यकता है. वेदार्थ विचार के बाद ही फलाकांक्षी कर्म में प्रवृत्त होते हैं और मुमुक्ष ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि–विद्या कर्मांग नहीं है। यद्यपि अध्ययन की विधि ही अर्थज्ञान की ओर प्रवृत्त करती है, फिर भी विद्या कर्म का अंग नहीं है, क्योंकि–अर्थज्ञान और विद्या नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। जैसे कि–ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के स्वरूप के ज्ञान से, फल का साधक कर्मानुष्ठान, नितान्त भिन्न है। वैसे ही ब्रह्म स्वरूप विषयक ज्ञानात्मक वेदार्थ की प्रतीति से, ध्यान-उपासना आदि शब्द वाच्य, पुरुषार्थ की साधनरूप विद्या, एकदम भिन्न वस्तु है। उसके साथ कर्म का किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

नाविशेषात् ।३।४।१३॥

यच्चोक्तं–"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यात्मविदं ज्ञानाद्व्यावर्त्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति, तन्नोपपद्यते, अविशेषात्-नहि अयं नियमः, फलसाधनभूतस्वतंत्रकर्मविषय इति विशेष हेतुरस्ति विद्यांगभूतकर्मविषयत्याऽप्युपपत्तेः। "कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः" इति च विदुषः त्वाप्रयाणादुपासनस्यानुवर्त्तमानत्वात् ।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि-"कर्मों को करते हुए ही" यह श्रुति आत्मवेत्ता के लिए ज्ञान से पृथक् कर्मानुष्ठान का यावज्जीवन पालन करने का उपदेश देती है, यह बात भी असंगत है, उक्त श्रुति में, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बतलाया गया है, जैसा आप समझ रहे हैं। कर्म को विद्या का अंग मानने पर भी उक्त बात बन सकती है। "जनकादि ने कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त की" इस वाक्य से तो, मरणपर्यन्त उपासनानुवर्ती कर्म की बात सिद्ध होती है।

एवमर्थस्वाभाव्येन चोद्यं परिहृत्य "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह—

इस प्रकार उक्त वाक्य का विवेचन करके आपत्ति का समाधान किया गया, अब "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" वाक्य का अर्थ बतलाते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४।।

वा शब्दोऽवधारणार्थः "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इति विद्या-प्रकरणाद् विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम् विद्या माहात्म्यात् सर्वदा कर्मकुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति। वाक्यशेषश्चैवमेवं दर्शयति "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति। अतो न कर्मांग विद्या।

वा शब्द, अवधारण अर्थ में, प्रयुक्त है। "यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है।" इत्यादि विद्या के प्रकरण से-विद्या की प्रशंसा के व्याज से, सदा कर्मानुष्ठान की अनुमति दी गई है। विद्या के माहात्म्य से सदा कर्म करते हुए भी, कर्मों से लिप्त नहीं होता, ऐसी विद्या की स्तुति की गई है। इसी प्रकरण के अंतिम वाक्य से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है— "तुम मनुष्य होकर भी यदि इस प्रकार विद्या में स्थित रहोगे तो कोई भी कर्म तुम्हें लिप्त न कर सकेंगे।" इससे स्पष्ट है कि–विद्या कर्म का अंग नहीं है।

कामकारेण चैके ।३।४।१५।।

अपि चैवमेके शाखिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य

ankurnagpal108@gmail.com

गार्हस्थ्य त्यागमधीयते "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः" इति। विदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं ब्रुवदिदंवचनं ब्रह्मविद्यायाः कर्मानंगत्वं दर्शयति। यज्ञादिकर्मांगत्वे हि विद्यायाः विद्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न संभवति। अतो न विद्या कर्मांगम्।

किसी एक वेद की शाखा में ब्रह्मविद्यापरायण व्यक्ति के लिए ग्रहस्थ कर्मों के त्याग का भी उपदेश दिया गया है "मैं संतान से क्या प्राप्त करूँगा, इससे मेरे अभीष्ट लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती" यह श्रुति विरक्त विद्वान के गार्हस्थ्य त्याग को बतलाकर यह सिद्ध करती है कि- ब्रह्मविद्या, कर्म का अंग नहीं हैं। विद्या यदि, यज्ञादि कर्म का अंग होती तो, विद्यापरायण व्यक्ति के लिए गार्हस्थ्य कर्मों के त्याग की बात न कही गई होती। इससे स्पष्ट हैं कि–विद्या, कर्म का अंग नहीं हैं।

उपमर्द च।३।४।१६॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मविद्ययोपमर्दं च प्रतिवेदांतमधीयते। "भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्व संशयाः क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिकम्। तद्विद्यायाः कर्मांगत्वे न संगच्छते।

पुण्य और पाप रूप समस्त सांसारिक दुःखों के मूल कर्म का विद्या से नाश हो जाता है, ऐसा प्रत्येक वेदांत वाक्य का मत है। "परावर ब्रह्म दृष्टि हो जाने पर हृदयस्थ अविद्या ग्रंथि छिन्न हो जातीहै, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म राशियाँ क्षीण हो जाती हैं" इत्यादि। इसलिए विद्या की, कर्मांगत संगत नहीं होती।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि।३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु ब्रह्म विद्यादर्शनात् तेषु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां यावज्जीवाधिकार श्रुतेः, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां चाप्रामाण्यात्। अत आह शब्दे हि–इति। वैदिक एव हि शब्दे ते

ankurnagpal108@gmail.com

दृश्यंते—"त्रयोधर्मस्कन्धाः" ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजंति" इत्यादौ। यावज्जीव-श्रुतिस्त्वविरक्त विषया।

ऊर्ध्वरेतस-ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का चिन्तन विहित है, उनमें अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्मों का अनुष्ठान तो हो ही नहीं सकता, इससे भी स्पष्ट है कि—विद्या, कर्म का अंग नहीं है। यदि कहें कि—ऊर्ध्व रेतस आश्रम होते ही नहीं क्योंकि—"जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र यज्ञ करता है' इत्यादि से—अग्निहोत्र आदि की जीवन पर्यन्त कर्त्तव्यता निश्चित होती है इसलिए जो स्मृति वाक्य, ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का विधान बतलाते हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से अप्रामाणिक हैं। इस पर सूत्रकार "शब्दे हि' कहकर बतलाते हैं कि—वैदिक शब्दों में ही इन आश्रमों का उल्लेख है जैसे—"धर्म की तीन शाखायें हैं "जो जंगल में श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं" प्रव्राजक आत्म-लाभ के लोभ से ही प्रव्रजित होते हैं" इत्यादि। जीवन पर्यन्त कर्म का उपदेश देने वाली श्रुति, ग्रहस्थों के लिए है।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि।३।४।१८॥

यदिदं 'त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस आश्रमदृश्यंते, अतस्ते सन्त्येवेतिनैतद्युपपद्यते, यतः "त्रयो धर्म-स्कन्धाः" इत्यादिषु तेषामाश्रमाणां परामर्शमात्रं क्रियते-अनुवादमात्र-मित्यर्थः। कुत एतत ? अचोदनात्-अविधानादित्यर्थः। नहि अत्र विधिशब्दः श्रूयते, "त्रयोधर्मस्कन्धाः "इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणवेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते" ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्युपसंहारात्। अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्रक्रियते तेषामाश्रमाणाम्। "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपास्यते" इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाश्रमान्तरविधि संभवः। अपि चापवदति हि श्रुतिमाश्रमांतरम् "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इत्यादिका। अत ऊर्ध्व रेतस आश्रमा न संति इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

"त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि वैदिक शब्दों में ऊर्ध्व रेतस आश्रमों का उल्लेख मिलता है, इसलिए उन आश्रमों का अस्तित्व है, ऐसा कहना भ्रामक हैं। इन वाक्यों में तो उन आश्रमों का परामर्श मात्र किया गया है, अर्थात् अनुवाद मात्र हैं। शास्त्र में इनकी विधि का उल्लेख न होने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" में तो त्रैमात्रिक प्रणवब्रह्म की उपासना की स्तुति की गई है "ब्रह्मसंस्थव्यक्ति अमृतत्व प्राप्ति करता है" इस प्रसंग के उपसंहार परक वाक्य से यही बात ज्ञात होती है। इस वाक्य से आश्रमपरक अर्थ निकालना तो अनुवाद मात्र ही है। "जो श्रद्धा और तप से वन में उपासना करता है" यह वाक्य भी देवयान विधि परक है, इसमें भी आश्रमविधि का उल्लेख नहीं है। ग्रहस्थ के अतिरिक्त अन्य आश्रमों का स्पष्ट विरोध भी किया गया है "जो अग्नि त्याग करता है वह, देवताओं के वीर्य की हानि करता हैं" इत्यादि। इस विवेचन से निश्चित हो जाता हैं कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं हैं ऐसी जैमिनि आचार्य की मान्यता है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९।।

ग्रहस्थाश्रमवदाश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं भगवान बादरायणो मन्यते। कुतः? साम्यश्रुतेः, उपादेयतयाऽभिमतग्रहस्थाश्रम साम्यं हि तेषामप्याश्रमाणां श्रूयते। "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यारभ्य ब्रह्म-संस्थस्तुत्यर्थतया संकीर्त्तनं ग्रहस्थाश्रमस्येतरेषां च समानम्, अथ ग्रहस्थाश्रमस्यानुवादः प्राप्तौ सत्यामेव संभवतीति तस्य प्राप्ति-रवश्याभ्युपेत्येतिमतम्, तदितरेषामपि समानमन्यत्राभिनिवेशात्।

ग्रहस्थ की तरह अन्य आश्रम भी अनुष्ठेय हैं ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। ग्रहस्थाश्रम की तरह उनकी भी उपादेयता का वर्णन मिलता है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" से प्रारंभ करके जो ब्रह्मसंस्थ की प्रशंसा की गई है, वह-ग्रहस्थ और उन आश्रमों में समान रूप से लागू होती हैं (अर्थात् ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति चाहे ग्रहस्थ हो या उन आश्रमों का हो वह अमृतत्व प्राप्त करेगा) यदि कहें कि-ग्रहस्थाश्रम की प्रशंसा भी अनुवाद मात्र ही है, सो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए उसे

ankurnagpal108@gmail.com

तो अनुवाद मान नहीं सकते। [अर्थात् ग्रहस्थाश्रम में तो, उपासना-ब्रह्मसंस्थता और अमृतत्व प्राप्ति वेध है ही] ग्रहस्थाश्रम के समान अन्य आश्रमों में भी मानना न्याय संगत है।

न च ग्राहस्थ्य धर्म एव "यज्ञोऽध्ययनं दानं तपो ब्रह्मचर्यं इति सर्वैः शब्दैरभिधीयते, ब्रह्मचर्यतपसोर्ग्रहस्थस्यैव संभवा-दितियुक्तम्, त्रयोधर्मस्कंधाः" इति त्रित्वेन संगृह्य "प्रथमो-द्वितीय-तृतीय" इति विभागवचनानुपपत्तेः। अतः "यज्ञोऽध्ययनं दानं" इति ग्रहस्थाश्रम उच्यते। अध्ययनशब्दो वेदाभ्यासपरः। तपः शब्देन वैखानसपारिव्राज्ययोर्ग्रहणम्, उभयोः तपः प्रधानत्वात्। तपः शब्दो हि कामक्लेशेरूढः, स च द्वयोरपि समानः। ब्रह्मचारि धर्म एव ब्रह्मचर्य शब्देनाभिधीयते।

केवल ग्रहस्थाश्रम ही वैदिक है तथा "यज्ञ अध्ययन,दान, तप, और ब्रह्मचर्य" इत्यादि साधन केवल ग्रहस्थाश्रम के लिए ही विधेय हैं,ऐसा नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मचर्य और तप ग्रहस्थ के लिए भी विधेय हैं यह बात ठीक है किन्तु "त्रयो धर्मस्कन्धाः" वाक्य में जो तीन का उल्लेख किया गया है वह, उक्त साधनों में प्रारंभिक-प्रथम-द्वितीय-तृतीय के विभाग का बोधक है, इसके अनुसार प्रारंभिक तीन साधन यज्ञ-अध्ययन और दान, ग्रहस्थ आश्रम के अनुष्ठेय-विशेष साधन हैं। अध्ययन का तात्पर्य वेदाध्य-यन से है। "तप" साधन वाणप्रस्थी और संन्यासी के लिए बतलाया गया है क्योंकि-दोनों ही आश्रम तप प्रधान हैं। तप शब्द प्रायः काय क्लेश के लिए ही रूढ है जो कि-दोनों आश्रमों में समान रूप से विहित है। ब्रह्मचर्य शब्द, ब्रह्मचारी की साधना का बोधक है।

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति परत्र श्रूयमाणो ब्रह्मसंस्थ शब्दो यौगिकः सर्वाश्रमसाधारणः, सर्वेषामाश्रमिणां ब्रह्मसंस्थासंभवात्। ब्रह्मणिसंस्था-संस्थितिः, ब्रह्मसंस्थत्वम्, तच्च सर्वेषां संभवत्येव। ब्रह्मनिष्ठा विकलाः केवलाः केवलाश्रमिणः, पुण्यश्लोकभाजः तेष्वेव ब्रह्मष्ठिोऽमृतत्वभाग्भवति। तदेतद्विस्पष्टमुक्तं भगवता पराशरेण

ankurnagpal108@gmail.com

—"प्राजापत्यं ब्राह्मणानां" इत्यारभ्य "ब्रह्मं संन्यासिनां स्मृतम" "इत्यन्तेन वर्णानामाश्रमाणां च केवलानां ब्रह्मलोक प्राप्त्यंतं फलमभिधाय "एकांतिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यंति सूरयः" इति तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठानां ब्रह्मप्राप्तिमभिदधता। अतो ग्रहस्थाश्रमतुल्याः, ऊर्ध्वरेतस आश्रमा अपि दृश्यन्त इति, तेऽप्यनुष्ठेयाः। "येचेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इति च अरण्ये इति तपः प्रधानाश्रमप्राप्त्यपेक्षत्वात् देवयान विधानस्य तत्रापि तत्प्राप्तिरंगीकरणीया।

"ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति अमृतत्व प्राप्त करता है" इस अंतिम वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्मसंस्थ शब्द यौगिक है, जो कि-सभी आश्रमों के लिए समान रूप से प्रयोग किया गया है। इसलिए सभी आश्रम में ब्रह्मसंस्थता संभव है। ब्रह्म विषयक संस्था अर्थात् सम्यक् स्थिति को ब्रह्मसंस्थता कहते हैं। जो ब्रह्म संस्थता से विहीन केवल आश्रम धर्म का पालन करने वाले हैं, वे सब स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं में जो लोग ब्रह्मसंस्थ होते हैं वे अमृतत्वप्राप्त करते हैं, ऐसा भगवान पराशर ने स्पष्ट कहा है— "ब्राह्मणों को प्राजापत्य लोक मिलता है" से "संन्यासियों को ब्रह्म लोक मिलता है" इस वाक्य तक सभी वर्ण और आश्रमों की वर्णाश्रमानुसार पारलौकिक गति बतलाकर "जो लोग सदा ब्रह्म ध्यान में लीन रहते हैं, उन्हे परंपद प्राप्त होता है, उसे उपासक ही देख पाते हैं" इत्यादि से ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों की ब्रह्म प्राप्ति स्पष्ट बतलाई गई है। इससे ज्ञात होता है कि-ग्रहस्थ की ही तरह ऊर्ध्वरेतस आश्रम भी हैं, उनका भी पालन करना चाहिए। "ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि वाक्य में "अरण्ये" पद से वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम का निर्देश किया गया है। देवयान के विधान में यह वाक्य अनूदित होते हुए भी इसकी तद्विषयक विधि भी स्वीकारनी चाहिए, अनुवाद की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है।

परामर्शपक्षे विधानपक्षे च ग्रहस्थाश्रमतुल्यमेषामप्यनुष्ठेयत्व

ankurnagpal108@gmail.com

मित्युपपाद्य विधिरेवायमाश्रमाणां सर्वेषां, नानुवाद इत्युपपादयितुं आह—

परामर्श और विधान के आधार पर ग्रहस्थाश्रम की तरह अन्य आश्रमों की अनुष्ठेयता बतलाकर, अब बतला रहे हैं कि सभी आश्रम वैध हैं अनुवाद मात्र नहीं है—

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः । विधिरेवायमाश्रमाणां, धारणवत्-यथादिष्टाग्निहोत्रे "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्रानुवादसरूपादपि वाक्यादुपरिधारणस्याप्राप्तत्वाद्-विधिराश्रीयते, तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इति, तथाऽत्राप्यप्राप्तत्वाद्विधिरेवाश्रयणीयः "ब्रह्मचर्यं समाप्यगृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" इति जाबालानामा-श्रमविधिमसंतमिवकृत्वैतेष्वन्यपरेष्वपि वाक्येष्वाश्रमप्राप्तिरवश्या-श्रयणीत्येत्युपपादितम् । एवमाश्रमान्तरविधानादृणश्रुतिर्यावज्जीव-श्रुतिपवादश्रुतिश्चाविरक्तविषया एवेति वेदितव्याः । अन्याश्च ब्रह्मविदः कर्मणामप्रयाणादवश्यकर्त्तव्यता विधायिन्यः श्रुतयः स्मृतयश्च स्वस्वाश्रमधर्मविषयः, अत ऊर्ध्वरेतस्सु च ब्रह्मविद्या विधानाद् विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम् ।

वा शब्द अवधारणार्थक है । शास्त्र में सभी आश्रमों की विधि का उल्लेख है । जैसे कि–आदिष्ट अग्निहोत्र यज्ञ के अधस्तात समिधं' इत्यादि में ऊपर धारण'' करने की बात अनुवादमात्र ही है, बिना विधि के, अनुवाद की बात नहीं बनती, इसलिए "धारयति" अनुवाद पद को विधि पद के रूप में "धारयेत" मानना पड़ेगा । जैसे कि–पूर्वमीमांसा के शेष लक्षण मेंकहा भी गया है– 'धारण क्रिया जब कहीं प्राप्त न हो तो धारणा में विधि की कल्पना करनी चाहिए" वैसे ही ऊर्ध्वरेतस आश्रमों

ankurnagpal108@gmail.com

का स्पष्ट उल्लेख न मिलने से अनुवाद से ही विधि की ही कल्पना करनी होगी।

"ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही होवे,गृही होकर बनी होवे, बनी होकर प्रव्रज्या ग्रहण करे, अथवा सामर्थ्य होने पर ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या ग्रहण करे, जहाँ भी वैराग्य का संचार हो वहीं से संन्यासी हो जावे" इस जाबालोपनिषद् में तो आश्रमों की विधि का स्पष्ट उल्लेख भी है। अन्य वाक्यों में भी जहाँ आश्रमों का वर्णन मिलता है, उसमें भी आश्रमों की अवश्य आश्रयता का उपपादन ही समझना चाहिए। इस प्रकार आश्रमों के सद्भाव के प्रमाणित हो जाने पर, ऋषि श्रुति, यावज्जीव श्रुति, अपवाद श्रुति आदि ग्रहस्थ विषयक ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। और जो, श्रुति और स्मृति वाक्य, ब्रह्मवेत्ताओं के संबंध में आमरणकाल तक कर्त्तव्यता का विधान करते हैं, वह उन आश्रमों के धर्म के अनुसार विधान करते हैं। ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में भी जो ब्रह्मविद्या का विधान किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि–विद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

२ स्तुतिमात्राधिकरणः—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१।।

इदमिदानीं चिन्त्यते "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" इति एवं जातीयकानिवाक्यानिक्रत्ववयव भूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आहोस्वित् उद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानार्थानीति। अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्वमंगीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थत्वेन क्रतुषूपादाननियम उक्तः। किं युक्तम्? स्तुतिमात्रपराणीति। कुतः? उद्गीथाद्युपादानात्। क्रत्वंगभूतानि हि उद्गीथादीन्युपादाय तेषां रसतमादित्वं प्रतिपादितम्। यथा जुह्वादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो वचनस्य "इयमेव जुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिकस्य तत्स्तुतिमात्रपरत्वं, तथेहापि। तदिदमाशंकते-स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत्-इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उद्गीथाद्युपादानात्तत्स्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत् ।

अब विचार करते हैं कि–"वह रसों का परमरस आठवाँ उद्गीथ नामक रस है" इस प्रकार के वाक्यों को यज्ञांग रूप उद्गीथ के स्तुतिपरक माना जाय अथवा उद्गीथ में रसतम दृष्टि का विधायक कहा जाय? पहिले तो–इसे उपासना परक, तथा उपासना के ही पुरुषार्थ साधक तथा यज्ञ में उपासना की आवश्यकर्त्तव्यता को अनियमित बतला चुके हैं, अब यह विचारना है कि युक्ति संगत क्या है? स्तुतिपरक ही कह सकते हैं, उद्गीथ आदि के उपादान से ऐसा ही समझ में आता है। यज्ञांग रूप उद्गीथ आदि के आधार पर उद्गीथ आदि संबंधी, रसतम आदि भावों का प्रतिपादन किया गया है। जैसकि–यज्ञांगजुहू में आदि के प्रतिपादक "पृथिवी ही जुहू है जो कि स्वर्ग में आहवनीय है" वाक्य जुहू के ही बोधक हैं। इसपर शंका करते हैं कि–संपूर्ण स्तुति के लिए अवलंबन किया गया है अथवा अंश में ही किया गया है? इस पर कहते हैं कि–उद्गीथ आदि का उपादान होने से इन वाक्यों का स्तुतिमात्र ही विवक्षित है।

सिद्धान्तः-अत्रोत्तरं-ना पूर्वत्वात्-इति। न स्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते, कुतः? अपूर्वत्वात्-अप्राप्तत्वात्। न हि उद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण प्रतिपन्नाः, येन तत्प्राशस्त्यबुद्ध्युत्पत्त्यर्थं रसतमादित्वेनानूद्येरन्। न चोद्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः येन "इयमेवजुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिवत्तदेकवाक्यत्वेन ययाकयाचन विधया तत्स्तुतिपरत्वमाश्रीयेत। अतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम्।

सिद्धान्तः—यह वाक्य स्तुतिपरक मात्र नहीं है, ऐसा किसी भी श्रुति में प्रमाण भी नहीं मिलता। उद्गीथ आदि की रसतमता किन्हीं अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है उसमें तो श्रुति ही प्रमाण है इसलिए रसमयता को केवल स्तुतिमात्र नहीं कहा जा सकता। "इयमेव जुहु" की तरह उद्गीथ आदि स्तुतिपरक नहीं है "इयमेव जुहू" इत्यादि में तो,

ankurnagpal108@gmail.com

किसी प्रकार विधिसमानार्थक मानकर स्तुतिपरता की कल्पना की गई है। यज्ञ की प्रबलतम फलावाप्ति की फलश्रुति के आधार पर उद्‌गीथ आदि की रसमयता स्वीकारना ही न्याय संगत है।

भावशब्दाच्च ।३।४।२२॥

"उपासीत्" इत्यादि भावशब्दाच्च विधिपरत्वमेव न्याय्यम्। विधिप्रत्यय युक्तो हि क्रियाशब्दो विधेयमेव स्वार्थमवगमयति। तस्मादुपासनविधानार्था एताः श्रुतयः।

"उपासीत्" इत्यादि भावात्मक शब्दों के प्रयोग से उद्‌गीथादि को विधिपरक मानना ही उचित है, विधिप्रत्यययुक्त क्रिया बोधक शब्दों से-अनुष्ठेय विषय का वास्तविक अर्थ प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित होता है कि-ये श्रुतियाँ विधानार्था हैं, केवल स्तुति मात्र नहीं।

३ पारिप्लवाधिकरणः—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३॥

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" श्वेतकेतुर्हारुणेय आस "इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वाख्यानानि किं पारिप्लव प्रयोगार्थानि उत विद्याविशेष प्रतिपादनार्थानीति चिन्तायाम् "आख्यानानिशंसन्ति" इत्याख्यानानां पारिप्लवे विनियोगान्न विद्या प्रधानत्वं न्याय्यम् इति चेत्—

दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के प्रिय भवन में गया" श्वेतकेतु आरुणेय का" इत्यादि वेदांतों के आख्यान, क्या पारिप्लव प्रयोग हैं अथवा विद्या विशेष के प्रतिपादक हैं? इस विचार पर "आख्यायिकाओं का पाठ करो" इस विधि वाक्य के अनुसार तो, पारिप्लव प्रयोग ही प्रतीत होता है, विद्याविशेष मानना उचित नहीं है।

सिद्धान्तः—न सर्वाण्याख्यानि पारिप्लव प्रयोगे विनियोगमर्हन्ति, कुतः? विशेषितत्वात् विनियोगस्य। "आख्यानानिशंसन्ति" इत्युक्त्वा

ankurnagpal108@gmail.com

तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिना मन्वादीनामाख्यानानि विशेष्यन्ते, अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति उच्यते । तस्मान्न सर्वा वेदांतेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः अपितु विद्या विध्यर्थाः ।

सिद्धान्तः—सभी आख्यान, पारिप्लव प्रयोग वाले नहीं माने जाने, प्रयोग के लिए विशेष आख्यानों का ही उल्लेख मिलता है—"आख्यानों का पाठ करो" ऐसा विधान बतलाकर "सूर्यवंश में मनु नामक राजा हुए" इत्यादि में विशेष आख्यानों का उल्लेख किया गया है। इससे निश्चित होता है कि—वेदांतों के सभी आख्यान पारिप्लव प्रयोग के लिए नहीं हैं, अपितु विद्यार्थक भी हैं ।

तथाचैकवाक्योपबंधात् ।३।४।२४।।

"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादिविधिनैकवाक्यतयोपबंधाचाख्यानानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते, यथा—"सोऽरोदीत्" इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम्, न पारिप्लवार्थत्वम् ।

"आत्मा को देखना चाहिए" इत्यादि विधिपरक वाक्यों की एक वाक्यता से ज्ञात होता है कि—उनसे संबद्ध आख्यायिकायें, विद्या विधि की परिपोषक हैं, जैसे कि– 'सोऽरोदीत्" इत्यादि कर्मविधि की पोषक हैं। इससे सिद्ध होता है कि—वेदांतों की आख्यायिकायें, पारिप्लवार्थक नहीं हैं ।

४ अग्नींधनाद्याधिकरणः—

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५।।

स्तुतिप्रसंगादवांतरगसंतिविशेशणार्थद्वयं चिन्तितम् विद्यावंत ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणः संतीत्युक्तम् "ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि" इत्यादिभिः सूत्रैः । इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदंगिका विद्या न संभवतीत्याशंक्याह—अतएव चाग्नीन्धानाद्यनपेक्षा—इति । यत

ankurnagpal108@gmail.com

ऊर्ध्वं रेतस आश्रमिणो विद्यासंबंधित्वेन श्रुत्या परिगृह्यन्ते-"ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति-"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छंतः प्रव्रजन्तः "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरति" इत्यादिकया अतएवोर्ध्वरेतस्सु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा-अग्नींधनम्, अग्न्याधानम्, आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मानिपेक्षातेषु विद्या । केवल स्वाश्रमविहित कर्मापेक्षेत्यर्थः ।

स्तुति के प्रसंग में दो आवश्यक बातों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। "ऊर्ध्वरेतस्सु शब्दे हि" इत्यादि सूत्रों से ज्ञानी ऊर्ध्वरेतस आश्रम वालों का माहात्म्य बतलाया। उन आश्रम वालों का यज्ञादि कर्मों में अनधिकार है, यज्ञ की पोषिका विद्या में भी अनधिकार है? ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं। "ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व प्राप्त करते हैं "श्रद्धा और तप से अरण्य में उपासना करते हैं" आत्मलोक की प्राप्ति के लिए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं "जिसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का भी विद्या में अधिकार है, ऊर्ध्वरेतसों की विद्या अग्नि इंधन आदि सापेक्ष नहीं है। अग्नींधन का तात्पर्य है, अग्न्याधान, अर्थात् आधान-पूर्वक अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि कर्मों की विरक्त आश्रमवालों को अपेक्षा नहीं होती। केवल अपने आश्रम से विहित कर्मों की ही अपेक्षा होती है।

५ सर्वापेक्षाधिकरणः—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।३।४।२६॥

यदि विद्या यज्ञाध्यनपेक्षैवामृतत्वं साधयति, तर्हि गृहस्थेष्वपि तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादि श्रुतिरपि "विविदिषंति" इति शब्दात् कर्मणो वेदनांगतां न प्रतिपादयतीति ।

यदि विद्या, यज्ञादि के बिना ही अमृतत्व का साधन करती है तो गृहस्थों में भी बिना यज्ञादि के अमृतत्व साधन कर सकती है? यज्ञादि

ankurnagpal108@gmail.com

की प्रतिपादिका कर्म को विद्या का अंग नहीं बतलाती ऐसा ही समझना चाहिए ।

सिद्धान्तः-अत्राह-सर्वापेक्षा-इति । अग्निहोत्रादिसर्वकर्मापेक्षैव विद्याकर्मवत्सु गृहस्थेषु, कुतः? यज्ञादिश्रुतेः । "तमेतं वेदानुवचनेन-ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिना याज्ञादयो हि विद्यांगत्वेन श्रूयंते । यज्ञादिना विविदिषंति वेदितु-मिच्छति, यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छंतीत्यर्थः । यज्ञादीनां ज्ञान साधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुमिच्छंतीति व्यपदेश उपपद्यते, यथा असेर्हननसाधनत्वे सति असिना जिघांसतीति व्यपदेशः, अतो यज्ञादीनां, ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते । ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तर-भूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्न स्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणादनुवर्तमानं मोक्ष-साधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव, वक्ष्यति च "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादिना । एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनिमित्त कर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिषंतीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते । अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मापेक्षा विद्या । अश्ववत्-यथा गमन साधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरबंधपरिकर्मापेक्षः, एवं मोक्षसाधन-भूताऽपि विद्या नित्यनैमित्तककर्मपरिकरापेक्षा । तदिदमाह स्वयमेव भगवान् "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंत-तम्, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदंति मानवः" इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–गृहस्थों के लिए विद्या, कर्मसापेक्ष है । कर्मयोगी गृहस्थों में, अग्निहोत्र आदि सर्व कर्म सापेक्ष विद्या का विधान है । ऐसा यज्ञादि प्रतिपादिका श्रुतियों से ही सिद्ध होता है । "ब्राह्मण, यज्ञ-दान-तप और अनासक्ति कर्म द्वारा इस आत्मा को

ankurnagpal108@gmail.com

जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि श्रुति, यज्ञ आदि को विद्या का अंग बतलाती हैं। यज्ञादि से विविदिषा करते हैं का तात्पर्य है कि-यज्ञादि से विद्या प्राप्ति की इच्छा करते हैं। यज्ञादि सब ज्ञान के साधक हैं फिर भी यज्ञादि के सहयोग से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है। जैसे कि खड्ग हिंसा का साधन हैं, फिर भी "खड्ग से मारता है" ऐसा प्रयोग किया जाता है जो कि क्रियात्मकता का बोधक है। इस प्रकार यज्ञादिकों की ज्ञान साधकता ज्ञात होती है। उक्त वाक्य में जिस ज्ञान का उल्लेख है वह शास्त्रीय ज्ञान से भिन्न वस्तु है जो कि- ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य, सर्वाधिक प्रिय सुस्पष्ट प्रत्यक्षभावापन्न स्मृति स्वरूप है। यह मृत्यु काल पर्यन्त निरंतर अहर्निश अभ्यास द्वारा उत्कृष्ट होकर मोक्ष साधन करता है, यह बात पहिले ही सूत्र में कही गई है। "आवृति सकृदुपदेशात्" में यही बात सूत्रकार भी कहते हैं परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के उपाय नित्य नैमित्तिक कर्म के, निरंतर अनुष्ठान से, परम पुरुषोत्तम के अनुग्रह के फलस्वरूप ही उक्त ज्ञान का उदय होता है, यही बात "विविदिषंति" इत्यादि मे प्रतिपादित है कर्मयोगी गृहस्थों की उपासना निश्चित ही, यज्ञादि कर्म सापेक्ष है। जैसे कि-घोड़ा, गमन का साधन होते हुए भी, अन्यान्य गमनोपयोगी साधनों से सापेक्ष होता है, वैसे ही मोक्ष साधनभूत विद्या, नित्यनैमित्तक आदि सहायक कर्मों से सापेक्ष होती है। भगवान् स्वयं ही उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं-"यज्ञ-दान-तप और कर्म कभी परित्याज्य नहीं हैं, अनुष्ठेय हैं, यज्ञ-दान और तप ही उपासकों को पवित्र करते हैं सारे भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसमें यह सारा जगत व्याप्त है, मानव, अपने कर्त्तव्य कर्म से उसकी उपासना करके उसे प्राप्त करते हैं।"

५. शमदमाद्यधिकरणः—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापितुतद्विधेः तदंगतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् ३।४।२७॥

ग्रहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि उत न ? इति चिन्तायाम् आन्तरवाह्यकरणव्यापाररूपत्वात् कर्मानुष्ठानस्य शमदमादीनां तद्विपरीत रूपत्वाच्चाननुष्ठेयानि।

ankurnagpal108@gmail.com

ग्रहस्थ के लिए शमदम आदि साधन भी अनुष्ठेय हैं या नहीं? इस संशय पर विचारने पर समझ में आता है कि—कर्मानुष्ठान तो बाह्य और आभ्यंतर साधनों द्वारा साध्य हैं तथा शमदम आदि इसके विपरीत हैं, इसलिए ग्रहस्थों द्वारा वे साध्य नहीं है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते–यद्यपि गृहस्थः करणव्यापार-रूप कर्मसु प्रवृत्तः तथापि स विद्वान् शमदमाद्युपेतः स्यात् कुतः? तदंगतयातद्विधे विद्यांगतया तेषां विधेः "तस्मादेवंविच्छांतो दांत उपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति। विद्योत्पत्तेश्चित्तसमाधानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्छमादीनां, विद्यानिवृत्तये तेषां, शमदमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्य-प्यनुष्ठेयानि। न च करणव्यापार तद् विपर्ययरूपत्वेनकर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वात् विहितेषु करण व्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति। न च करणव्यापाररूप कर्मसु वर्त्तमानस्य वासनावशाच्छमादीना-मुपादेयत्वसंभवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनतया तत्प्रसाद-द्वारेण निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात् अतो गृहस्थस्य शम-दमादयोऽप्यनुष्ठेयाः।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं-यद्यपि गृहस्थ करणव्यापार रूप कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं फिर भी वे गृहस्थ साधक शमदम आदि साधन कर सकते हैं, विद्या के अंगरूप से उनकी विधि कही गई है–"ऐसे ज्ञानी पुरुष शांत-दांत-उपरति-तितिक्षु और समाहित होकर स्वतः ही आत्म-स्वरूप का दर्शन करते हैं।" ज्ञानोत्पत्ति अर्थात् चित्त समाधानात्मक ज्ञान साधन में, शमदम आदि की प्रत्यक्ष उपयोगिता देखी जाती है। विद्या की उत्पत्ति के लिए शमदम आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता है, इसलिए भो उनका अनुष्ठान आवश्यक है। कर्म और शमदम आदि नितांत विप-रीत विषयक हैं इसलिए, करणव्यापार संपादित कर्म और उससे विपरीत रूप वाले शमदम आदि में परस्पर विरोध नहीं हो सकता। विहित विषयों में इंद्रियों के व्यापार को कर्मानुष्ठान तथा निष्प्रयोजन इद्रियों

ankurnagpal108@gmail.com

के व्यापार की निवृत्ति को उपशम कहते हैं। ऐसा नहीं है कि—करण-व्यापार रूप कर्मों में लगे रहने के कारण वासनावश शमदम आदि का पालन किया जा सके सारे ही कर्म जब परमपुरुष परमात्मा के आराधन में ही नियुक्त रहते हैं तो उनकी कृपा से सारी ही विपरीत वासनाओं का उच्छेद हो जाता है' इसलिए गृहस्थ से भी शममद आदि अनुष्ठेय हैं।

७. सर्वान्नानुमत्याधिकरण:—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८।।

वाजिनां छंदोगानां च प्राणविद्यायां "न ह्वा अस्यानन्नं दग्धंभवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" न ह्वा एवं विदि किंचनानन्नं भवति" इति प्राणविद: सर्वान्नानुमति: संकीर्त्यंते' किमिमं प्राण-विद्या निष्ठस्य सर्वान्नानुमति: सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशयेविशेषादुपादानात् सर्वदा—

वाजसनेयी और छांदोग्य की प्राणविद्या में—"ये प्राणोपासक कुछ भी अभक्ष्य नहीं खाते" प्राणोपासकों के लिए अभक्ष्य नहीं है "इत्यादि में प्राणोपासकों के लिए सर्वभक्षता कही गई है वह सर्वकालिक विधि है या आपत्कालीन ? विचारने पर तो ऐसा लगता है कि—प्राणो-पासकों के लिए जो विशेष निर्देश किया गया है, उससे तो सार्वकालिक ही प्रतीत होती है !

सिद्धान्त:—इति प्राप्ते उच्यते-प्राणात्यये-इति । च शब्दोऽवधा-रणे, प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नाभ्यनुज्ञा, किं पुन: प्राणविद: । उषस्ति: किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु दुर्भिक्ष-दूषितोष्वभ्यग्रामे वसन्ननशनेन प्राणसंशयमापन्ने ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकांक्षमाण इभ्यंकुल्माषान् खादन्तं भिक्ष-माणस्तेन च उच्छिष्टेभ्योऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्त: पुनरपि "एतेषां मे देहि" इत्युक्त्वा तेन चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान्

कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमिभ्येनार्थितः "उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात्" इति वदन् चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इभ्येन पर्यनुयुक्तः "न वा अजीविष्यमिमानखादन कामो म उदपानम्" इति कुल्माषा खादने स्वस्यप्राणसंशयापत्तेस्तावन्मात्र-खादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वखादितशेषं जायायै दत्वातया च रक्षितान् अपरेद्युः याजनेनार्जिजीषया जिगिमिषुः पुनरपि प्राणसंशयमापन्नः तानेवे-भ्योच्छिष्टान् स्वोच्छिष्टभूतान् पर्युषितांश्चखाद। अतोब्रह्मविदा-मपि प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविदः सर्वान्नीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निश्चीयते।

सिद्धान्तः—प्राण की रक्षा के लिए आपत् धर्म के रूप में ही अभक्ष्य भक्षण की बात कही गई है। सूत्रस्थ वा शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है जिससे तात्पर्य होता है कि-प्राणान्तक आपत्ति के समय ही सब कुछ ग्रहण किया जाना चाहिए। ब्रह्मोपासक मात्र के लिए प्रणांतक आपत्ति आने पर सर्वभक्षता का उदाहरण मिलता है। केवल प्राणविद्योपासकों के लिए ही ऐसा विधान हो सो बात नहीं है।

ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उषस्ति चाक्रायण वज्र दग्ध कुरुदेश के अकाल पीड़ित होने पर किसी महावतों के गाँव में जाकर बस गए, अनशन से जब उनकी संशयित दशा हो गई, जीवन का भी ठिकाना न रहा तब उन्होंने उर्द खाने वाले किसी महावत से अन्न की आंकाक्षा की, हस्तिपक ने कहा कि-मैं जो खा रहा हूँ उसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है, इस पर ऋषि ने वे झूठे उर्द ही मांग कर खाए, भोजन के बाद जब हस्तिपक उन्हें अपना झूठा जल देने लगा तब उन्होंने कहा कि मुझे झूठा पीने का पाप लगेगा। इस पर हस्तिपक ने पूछा कि-"क्या मेरे उर्द झूठे नहीं थे?" इस पर ऋषि ने कहा कि-यदि मैं उर्द न खाता तो जीवित न रह पाता, इसलिए उसमें दोष नही है, परन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, इसलिए उसे ग्रहण करने पर मुझे दोष होगा।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रसंग में देखा जाता है कि— उर्द भोजन के अभाव में प्राण वियोग की संभावना थी, इसलिए जीवनोपयोगी उर्दों का भक्षण वैध ही रहा परन्तु यदि वह जल पीते तो उन्हें स्वेच्छाचारिता का दोष प्राप्त होता। उन्होंने अपने अर्धभुक्त उर्द स्त्री को दिये उसने उसमें से कुछ खाकर दूसरे दिन के लिए बचा लिये दूसरे दिन भी ऋषि ने उन अवशिष्ट उर्दों से अपने जीवन की रक्षा की। इस प्रसंग से निश्चित होता है कि-ब्रह्म-वेत्ता भी प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। इसी प्रकार प्राणोपासक भी अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। प्राणात्यय काल में ही अभक्ष्य भक्षण की वैधता सिद्ध होती है।

अबाधाच्च ।३।४।२९।।

"आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति ब्रह्मविद्योत्पत्तावाहारशुद्धि विधानावाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वामापद्विषयमवगम्यते। एवं ब्रह्मविदामतिशयशक्तीनामपि सर्वान्नीनत्व स्यापद्विषत्वात् प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमतिरायद्विषयैव।

"आहार शुद्धि से आत्म शुद्धि तथा आत्म शुद्धि से भगवत्स्मृति होती है।" इत्यादि श्रुति में, ब्रह्मविद्या की सिद्धि के लिए, आहार शुद्धि का महत्त्व बतलाया गया है, भगवच्चिंतन में बाधा न पड़े, इसलिए ब्रह्मवेत्ताओं को प्राणात्यय काल में सर्वभक्षण विहित है। प्राणोपासक तो अत्यल्प शक्तिशाली होते हैं उनके लिए तो उक्तकाल में सर्वभक्षण वैध ही है। आपत्तिकाल में ही अभक्ष्य भक्षण वैध है।

अपि स्मर्यते ।३।४।३०।।

अपि च आपद्विषयमेव सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यते—"प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति इतस्ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा" इति।

ब्रह्मवेत्ताओं के लिए, ऐसी आपतकालीन सर्वान्नभक्षणता स्मृति से भी विहित है जैसे—"जो जीवन के संशयित हो जाने पर इधर उधर

ankurnagpal108@gmail.com

कहीं से भी प्राप्त कर अन्न खा लेता है, वह कमल के पत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता।"

शब्दश्चातोऽकामकारे ३।४।३१।।

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नीनत्वमापद्विषयमेव, अतएव सर्वेषामकामकारे शब्दः, कामकारस्य प्रतिबोधकः शब्दो वर्त्तते। अस्ति हि कठानां संहितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दः तस्माद् ब्राह्मण सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा इति पाप्मना संस्पृष्टो न भवानीति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः।

ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त सभी को, आपतकाल में ही सर्वान्न भक्षण की आज्ञा दी गई है। कठ संहिता में स्वेच्छाचरण का स्पष्ट निषेध किया गया है—"मुझे पाप लगेगा ऐसा विचार कर ब्राह्मण सुरा पान नहीं करता।" इसका तात्पर्य है कि–मैं पाप से स्पृष्ट न होने पाऊँ, इसलिए ब्राह्मण सुरापान नहीं करता।

८. विहितत्वाधिकरणः—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।३।४।३२।।

यज्ञादि कर्मांगिकाब्रह्मविद्येत्युक्तम्, तानि च यज्ञादीनि कर्माण्यमुमुक्षुणा केवलाश्रमिणाऽप्यनुष्ठेयानि, उत न? इति चिन्तायां, विद्यांगानां सतां केवलाश्रमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोग विरोधः प्रसंज्यत् इति यज्ञादीनां केवलाश्रमधर्मत्वं न संभवति।

यज्ञादि कर्म, ब्रह्मविद्या के अंग हैं यह बतलाया गया। अब विचारा जाता है कि जो लोग आश्रम धर्म का पालन करते हैं, यज्ञादि कर्म उनके लिए भी विहित है कि नहीं? इस पर विचार करने पर समझ में आता है कि जो लोग विद्योपासक नहीं हैं केवल आश्रम धर्म पालक हैं, वे यदि यज्ञादि कर्म करेंगे तो, नित्यानित्य संयोग रूपी विरोध की उपस्थिति होगी, इसलिए यज्ञादि कर्म केवल आश्रम पालकों के लिए नहीं हो सकते।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आश्रमकर्मापि-इति । आश्रमस्य कर्मापि भवति । केवलाश्रमिणापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः? "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिना विहितत्वात् जीव निमित्ततया नित्यवत विहितत्वादित्यर्थः ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से आश्रम कर्मापि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् केवल आश्रम धर्म पालन करने वालों के लिए भी यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय हैं । "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए" इत्यादि में, जीवन की दैनिक चर्या की तरह यज्ञादि की नित्यता का विधान बतलाया गया है ।

तथा विद्यांगतया च "तमेतंवेदानुवचनेन" इत्यादिना विहितत्वाद्विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

इसी प्रकार विद्या प्रकरणीय "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में यज्ञांगरूप विद्यानुष्ठान का भी विधान बतलाया गया है । यही बतलाते हैं—

सहकारित्वेन च ।३।४।३३।।

विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्निहोत्रादीनामिव जीवनाधिकारस्वर्गाधिकारवत् विनियोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ।

विद्योत्पादक, विद्या के सहकारी रूप से भी, यज्ञादि अनुष्ठेय हैं, जीवन पर्यन्त होने वाले, स्वर्गादि कामनाओं के प्रदाता, अग्निहोत्रादि की तरह-प्रयोग की पृथकता से-विद्या साधनता और आश्रम साधनता, दोनों ही कार्य अविरुद्ध रूप से हो सकते हैं ।

तद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह—

उसी प्रकार कर्मान्तरता भी न होगी यह बतलाते हैं—

सर्वथापि त एवोभयालिंगात् ।३।४।३४।।

सर्वथा—विद्यार्थत्वे, आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपत्तव्यम्, न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः। कुतः ? उभय लिंगात्–उभयत्रश्रुतौ यज्ञादि शब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात्। कर्मस्वरूप-भेदे प्रमाणाभावाच्च।

यज्ञादि क्रियायें चाहे विद्यांग हों या आश्रमांग हों, दोनों प्रकार से वह एक ही हैं, उनमें स्वरूपगत कोई भेद नहीं हैं। दोनों प्रकारों को श्रुतियों में यज्ञ ही कहा गया है, उनमें जो पृथकता है वह प्रयोग ही है। कर्म में स्वरूपगत कोई भेद हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अनभिभवं च दर्शयति।३।४।३५॥

"धर्मेणपापमपनुदति" इत्यादिभिश्च तामेव यज्ञादि धर्मं निर्दिश्य तै विद्याया अनभिभवं–पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबंधभावं दर्शयति। अहरहरनुष्ठीयमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्योत्पते। अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः।

"धर्म से पाप नष्ट होते हैं" इत्यादि में उन्हीं यज्ञादि धर्मों का उल्लेख करके, यह बतलाया गया है कि–पाप कर्मों से विद्योत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती। नित्य प्रति किये जाने वाले यज्ञानुष्ठानों से विशुद्ध अन्तःकरण में नित्य विद्योत्पत्ति होती है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विद्या और आश्रम दोनों जगह, यज्ञादि कर्म एक हैं।

९ विधुराधिकरणः—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।३।४।३६॥

चतुर्णामाश्रमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, विद्यासहकारिण आश्रम धर्मा इति चोक्तम्। ये पुनराश्रमानन्तरा वर्त्तन्ते विधुरादयः तेषां ब्रह्मविद्यायामाधिकारोऽस्ति न वा ? इति विशये आश्रम धर्मेति कर्त्तव्यतारूपत्वाद्विद्यायाः अनाश्रमिणां चाश्रमधर्माभावान्ना-स्याधिकारः '

ankurnagpal108@gmail.com

चारों आश्रम वालों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है तथा आश्रम धर्म विद्या के सहकारी हैं, ऐसा निर्णय हो चुका। अब विचार करते हैं कि जो आश्रम रहित विधुर आदि हैं उन्हे ब्रह्म विद्या में अधिकार है या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—आश्रम धर्म वालों के लिए ही विद्या को कर्त्तव्य रूप से बतलाया गया है, इसलिए आश्रम रहित के लिए विद्या का अभाव है अतएव वे उसके अधिकारी नहीं हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अन्तरा चापि तु—इति। तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, च शब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्त्तमानानाम्—अनाश्रमिणामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव। कुतः? यद्दृष्टेः—दृश्यते हि रैक्व भीष्मसंवर्त्तादीनां अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् न चाश्रम धर्मैरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं वक्तुम्। "यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" इति दानादीनामाश्रमेषु अनैकान्तिकानामप्यनुग्राहकत्व दर्शनात्। यथोर्ध्वरेतस्सु विद्यानिष्ठत्वदर्शनादग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तैरेव विद्यानुग्रह क्रियते, तथाऽनाश्रमिष्वपि विद्यादर्शनादाश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहः शक्यते कर्त्तुम्।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "अन्तरा चापि तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है तथा च शब्द अवधारक है। जिससे निश्चित होता है कि—आश्रम रहित व्यक्तियों को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है, रैक्व, भीष्म, संवर्तक आदि आश्रम विहीन व्यक्तियों की ब्रह्म विद्या निष्ठता प्रसिद्ध है। आश्रम धर्म ही विद्या के उपकारक हैं ऐसा नहीं कह सकते। "यज्ञ दान तप और इन्द्रिय प्रत्याहार द्वारा" इत्यादि वाक्य में, आश्रम विशेष में, अनियत दान आदि धर्म से भी विद्या प्राप्ति की बात कही गई है। जैसे कि - ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में अग्नि होत्र के बिना, केवल ध्यान आदि उपाय ही, विद्या निष्ठता के उपकारी साधन हैं वैसे ही, आश्रम रहित व्यक्ति भी जप उपवास दान देवताराधन आदि उपासना के उपकारी सामान्य साधनों से विद्या निष्ठ हो सकते हैं।

अपि स्मर्यते।३।४।३७॥

अपि च अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते—

ankurnagpal108@gmail.com

"जप्येनापि च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः, कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति । संसिध्येत–जपानुग्रहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः ।

विद्या निष्ठता के जपादि साधनों का, अनाश्रमियों के लिए, स्मृति, में भी उल्लेख है "ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है वह कुछ करे या न करे संसार उसे मैत्र कह कर ही पुकारेगा। "संसिध्येत्" का तात्पर्य है कि वह जपादि परिपोषित विद्या से सिद्धि प्राप्त करते हैं।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८॥

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यां अयमर्थः साधनीयः, श्रूयतेचानाश्रम-नियतैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहा "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानमन्विष्येत्" इति ।

न केवल युक्ति और स्मृति से ही उक्त मत पुष्ट होता है अपितु अनाश्रम नियत धर्म विशेष का श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है "तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मानुसंधान करना चाहिए।

अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च ।३।४।३९॥

तु शब्दोऽवधारणे, अतः, अनाश्रमित्वात् इतरत् आश्रमित्यमेव ज्याया, अनाश्रमित्वमापद्विषयम्, शक्तस्यत्वाश्रमित्वमेवोपादेय-मित्यर्थाः । भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् । लिंगाच्च स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते च शक्तं प्रत्याश्रमस्योपादेयत्वम्–"अनाश्रमी न तिष्ठेत् दनमेकमपि द्विजः" इत्यादिना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अविराग्ये सति दारालाभ आपत् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है । आश्रमिता ही श्रेष्ठ है, अनाश्रमी रहना तो आपत धर्म है। सामर्थ्यवान के लिए तो आश्रम धर्म ग्रहण करना ही उचित है। अधिक गुण संपन्न और अल्प गुण संपन्न में समान कार्य साधकता तो हो नहीं सकती यह स्वभाव सुलभ बात है।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा लिंग अर्थात् स्मृति का प्रमाण भी है "द्विज एक दिन भी आश्रम रहित होकर न रहे" इत्यादि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से निवृत्त हो गया हो अथवा जिसकी पत्नी का देहांत हो गया हो, उसे किसी भी प्रकार स्त्री की प्राप्ति न हो पावे तो वह उसका आपत काल ही है।

११ तद्भूताधिकरणः—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ।३।४।४०॥

नैष्ठिकवैखानसपरिब्राजकाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्म विद्यायामधिकारोऽसि न ? इति चिन्तायां, विधुरादिवदनाश्रमैका-न्तैदोनादिभिर्विद्यानुग्रह संभवादस्त्यधिकारः ।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से गिरे हुए पतित व्यक्ति को भी विद्या का अधिकार है या नहीं ? इस पर विचारने से ऐसा मत होता है कि जैसे अनाश्रमी विधुर आदि के लिए, दानादि सामान्य धर्मों से परिपुष्ट ब्रह्म विद्या की निष्ठा बतलाई गई है, वैसे ही इन लोगों की भी हो सकती है इसलिए इनका भी अधिकार है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु नातद्भावः, इति । तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, तद्भूतस्य—नैष्ठिकाद्याश्रमनिष्ठस्य, नासद्भावः, अतथाभावः, अनाश्रमित्वेनावस्थानं न संभवति, कुतः? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्—तद्रूपाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि, वेषाः धर्मा इत्यर्थः, तेषामभावाः, तद् रूपाभावः, तेभ्यः शास्त्रै र्नियमात् । नैष्ठिकाद्याश्रमप्रविष्टान् स्वाश्रमधर्मनिवृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि "ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्यंतमा-त्मानमाचार्यंकुलोऽवसादयन्" इति "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति 'संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेत्" इति च । अतो विधुरादिवत नैष्ठिकादीनामनाश्रमित्वे नावस्थाना संभवान्न तानधिकरोति

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मविद्या, जैमिनेरपि–इत्यविगानं दर्शयन्नुक्तं स्वाभिमतं दृढ़यति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से उक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं । सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ व्यक्तियों का अतद्भाव अर्थात् अनाश्रमी होना संभव नहीं है । उन आश्रम के रूपों को धारण करने के बाद उनके त्याग का कहीं भी विधान नहीं है । उनके रूप का तात्पर्य है उनका वेष अर्थात् धर्म का अभाव, उनके विहित शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ हो जाने के बाद उनसे च्युत होने का शास्त्र में निषेध किया गया है । "आचार्य कुलवासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी को सदा आचार्य कुल में ही वास करना चाहिए ।–"अग्नि का त्याग कर उसे पुनः नहीं ग्रहण करना चाहिए ।" अरण्य जाने के बाद पुनः नहीं लौटना चाहिए ।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि–जो आश्रम धर्म से च्युत हो जाते हैं, उन्हें विधुर आदि की तरह ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । जैमिनि की सम्मति के अनुसार सूत्रकार ने अपना भी ऐसा ही दृढ़ मत स्थिर किया है ।

अथ स्यात्–नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात् प्रच्युतानां प्रायश्चित्तात् अधिकारः संभवति, अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितं–"अवकीर्णि पशुश्चतद्वत्" इति, अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्त संभवात् कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति–इति–तत्राह–

प्रश्न होता है कि–ब्रह्मचर्य से च्युत नैष्ठिक आश्रमों का प्रायश्चित्त भी तो हो सकता है, अधिकार लक्षण में उसके लिए प्रायश्चित्त का निरूपण करते हुए कहा भी गया है कि–"व्रतच्युत पशुयाग से शुद्ध होते हैं । " इस प्रकार प्रच्युत ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मविद्या का अधिकार हो सकता है । इसका उत्तर देते हैं–

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद योगात् ।३।४।४१॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तद्भ्रष्टानां न संभवति, कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात्–नैष्ठिकादीनां प्रच्यु-

ankurnagpal108@gmail.com

तानां पतनस्मृतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासंभवात्–"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः, प्रायश्चितं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति । अतो अधिकारलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितर ब्रह्मचारिविषयम् ।

अधिकर लक्षण में जो प्रायश्चित्त का लक्षण है वह ब्रह्मचर्य विच्युत व्यक्तियों के लिए नहीं है, जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट हो जाते हैं वैसे पतितों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उनके लिए प्रायश्चित्त की असंभावना बतलाई गई है "नैष्ठिक आश्रमों में आरूढ़ होने के बाद जो द्विज पतित हो जाता है उस आतमहत्यारे के लिए कोई प्रायश्चित्त दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे कि वह शुद्ध हो सके।" इससे सिद्ध होता है कि जो अधिकार लक्षण में जिस प्रायश्चित्त का विधान है वह नैष्ठिक आश्रमों के लिए नहीं है।

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ।३।४।४२॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमुपपूर्वम्–उपपातकम्, महापातकेष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चितस्य भावं विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते, अशनवत्–यथा मध्वादिनिषेधस्त प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम्, तदुक्तं स्मृतिकारैः "उत्तरेषां चैतदविरोधि" इति गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाश्रमाविरोध्युत्तरेषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः तद्वदिहापि ब्रह्मचर्य प्रच्यवने प्रायश्चित्तसंभवाद् ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति ।

किसी आचार्य का मत है कि जो नैष्ठिक आदि का पतन है वह उपपातक है, उसकी महापातकों में गणना नहीं है इसलिए उनका प्रायश्चित्त हो सकता है। जैसा कि मधुपान का निषेध और उसका प्रायश्चित्त उपकुर्वाण और नैष्ठिक दोनों के लिए समान है, वैसे ही यहाँ भी प्रायश्चित्त संभव है। जैसा कि स्मृतिकार का मत भी है कि–"यदि विरोधी न हो तो बाद के आश्रमों में भी यही नियम लागू होगा" अर्थात् गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी के लिए जो कहा गया यदि वह आश्रम के विरुद्ध न हो तो

ankurnagpal108@gmail.com

परवर्ती वानप्रस्थ संन्यासी आदि नैष्ठिक में भी संभव है। इसलिए ब्रह्मचर्य से च्युत का प्रायश्चित्त संभव है और ब्रह्मविद्या में अधिकार भी हो सकता है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३।।

तु शब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः, उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते बहिर्भूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः, ब्रह्मविद्यामनधिकृता इत्यर्थः। कुतः? स्मृतेः पूर्वोक्तात्पतनस्मरणात्। यद्यपि कल्मषनिर्हरणाय कैश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विद्यते तथापि कर्माधिकारानुगुण शुद्धिहेतु प्रायश्चित्तं न संभवति "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति स्मृतेरित्यर्थः। आचाराच्च-शिष्टा हि नैष्ठिकादीन् भ्रष्टान् कृतप्रायश्चित्तानपि वर्जयंति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिकं नोपदिशन्ति, अतस्तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्तमतान्तर का व्यावर्त्तक है। ब्रह्मचर्य स्खलन चाहे उपपातक हो या महापातक किन्तु स्खलित ब्रह्मचारी को ब्रह्मविद्या में अनधिकृत ही माना गया है। पूर्वोक्त स्मृति वाक्य में नैष्ठिक के पतन को जघन्य पातक ही माना है। यद्यपि पापों के प्रायश्चित्त के कुछ वचन प्रायश्चित्ताधिकार में मिलते हैं, फिर भी जिनसे सारा संसार कर्म के अधिकार की शिक्षा प्राप्त करता है उनकी शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है यही "प्रायश्चित्तं न पश्येत्" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है। पतित नैष्ठिकादिकों के प्रायश्चित्त का शिष्ट लोग भी विरोध करते हैं। उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते, इसलिए उन लोगों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

११. स्वाम्यधिकरणः—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४।।

कर्मांगाश्रमाणि उद्गीथादि उपासनानि किं यजमान कर्त्तृकाणि उत ऋत्विककर्त्तृकाणि? इति चिन्तायां—यजमान

ankurnagpal108@gmail.com

कर्त्तृकाणि इति आत्रेयोमन्यते, कुतः ? फलश्रुतेः, वेदांतविहितेषु दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनादिह च क्रतुफलाप्रतिबंधरूपस्योदगीथोपासनफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादित्यर्थः। न च गोदोहनादिवदंगाश्रयत्वेन यजमानकर्त्तृकत्वासंभवः गोदोहनादिषु हि अध्वर्युकर्त्तृक प्रणयनाश्रयगोदोहनोपादनमन्येनाशक्यम्, इह तु उद्गातृकर्तृकेऽप्युद्गीथे तस्योद्गीथादेः रसतमत्वानुसंधानं यजमानेनैव कर्त्तुं शक्यत।

कर्मांगाश्रित उद्गीथ आदि उपासनायें, यजमानकर्तृक हैं अथवा ऋत्विक ? इस पर आत्रेय का मत है कि यजमानकर्त्तृक हैं ऐसी ही फलश्रुति भी है। वेदांत की दहरादि उपासनाओं में उपासक और फलभोक्ता एक ही व्यक्ति कहा गया है। वैसे ही फलावाप्ति यजमान के लिए कही गई है इससे ज्ञात होता है कि-उपासना भी यजमान द्वारा ही होनी चाहिए। यह नहीं कह सकते कि-यज्ञ के अंग गोदोहन आदि कर्म जैसे यजमान द्वारा संभव नहीं हैं वैसे ही कर्मांग उपासनायें भी संभव नहीं हैं। गोदोहन तो अध्वर्यु के लिए ही रुचपाक में विहित है, वह अन्य के द्वारा संभव नहीं है। किन्तु उद्गीथ आदि उपासनाओं में जो क्रियानुष्ठान होते हैं उनमें उद्गाता कर्त्ता होता है फिर भी उद्गीथ की रसतम रूप से होनेवाली उपासना तो यजमान से ही संपादित होती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते—

इस पर स्वसिद्धान्त बतलाते हैं—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते।३।४।४५।।

आर्त्विज्यम्—ऋत्विजः कर्मोद्गीथाद्युपासनमित्यौडुलोमिराचार्योमन्यते, कुतः ? प्रयोजनाय ऋत्विक् परिक्रियते, फलसाधनभूतस्य सांगस्य क्रतोनुपादानायेत्यर्थः। कर्मविधिषु "ऋत्विजोवृणीते" ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति" इति ऋत्विक् कर्त्तृकत्व-

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्रेण फलसाधनभूतं सांगं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते, तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कर्त्तृकाण्येव, न च शक्त्यशक्तौ तस्य निबन्धनम्। यद्यपि उद्गीथाद्युपासनं पुरुषार्थः, तथापि क्रत्वधिकृताधिकारत्वात् क्रतोश्च सांगस्य ऋत्विक्कर्त्तृकत्वात् "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" इति ऋत्विक्कर्त्तृक क्रियोपयोगित्वेन विद्यायास्तदेककर्त्तृकत्व श्रवणात् ऋत्विक्कर्त्तृकान्येतानि दहरादिषूपासनेषु ऋत्विक्कर्त्तृकत्वाश्रवणात् "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति न्यायाच्च फलिकर्त्तृकत्वमेव।

औडुलोमि आचार्य का मत है कि–उद्गीथ आदि उपासना ऋत्विक कर्त्तृक है। प्रयोजन सिद्धि के लिए यजमान ऋत्विक् को खरीद लेता है। अर्थात् फल सिद्धि के उपाय रूप कर्म के सांगोपांग संपादन के के लिए उसका वरण करता है। "ऋत्विक् का वरण करता है" "ऋत्विजों को दक्षिणा देता है" इत्यादि कर्मकांडोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि–फलसाधक कर्म और संपूर्ण कर्मांग ऋत्विजों से ही अनुष्ठेय हैं। उन अनुष्ठानों के अंतर्गत जितने भी कायिक मानसिक कर्म हैं वे सभी ऋत्विक कर्त्तृक हैं, यजमान में उनके करने की शक्ति है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो एकमात्र ऋत्विजों का स्वायत्त कर्म है।

यद्यपि उद्गीथ आदि उपासनायें पुरुषार्थ साधक हैं फिर भी वह जब यज्ञाधिकार से अधिकृत है तो उन पर ऋत्विक का ही अधिकार माना जावेगा "विद्या से जो करता है वह प्रबलतम होता' है" इत्यादि में उपासना को यज्ञ की ही उपकारिणी कहा गया है, इसलिए उसका कर्त्ता ऋत्विक् ही निश्चित होता है। दहर आदि उपासनाओं में भी ऋत्विकोंका कर्त्तृत्व बतलाया गया है "शास्त्र का फल प्रयोक्ता में ही होता है" इत्यादि नियम से ज्ञात होता है कि–फलभागी ऋत्विक् ही उपासना का कर्त्ता है।

ankurnagpal108@gmail.com

१२. सहकार्यन्त्यधिकरण:

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४६॥

"अस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" इत्यत्र बाल्य पांडित्यवन्मौनमपि विधीयते, उत अनूद्यत ? इति विशये मौनपांडित्यशब्दयोःज्ञानार्थत्वात् "पांडित्यं निर्विद्य" इति विहितमेव ज्ञानं "अथ मुनिः" इत्यनूद्यते, विधि शब्दो नह्यत्र श्रूयत इति ।

"ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य से व्युत्पन्न होकर बाल्य में अवस्थान करे और फिर पांडित्य और बाल्य दोनों से अधिगत होकर मुनि हो जाय" इत्यादि में बाल्य और पांडित्य का जैसा विधान है मुनि का भी वैसा ही विधान होगा या नहीं ? इस संशय पर मत होता है कि–मौन और पांडित्य दोनों ही शब्द ज्ञानार्थक हैं "पाडित्य निर्विद्य" में जो ज्ञान अर्थ विहित है "अथमुनिः" में उसी का अनुवाद मात्र कर दिया गया है विधि बोधक शब्द का प्रयोग नहीं है। इसलिए मौन की विधि नहीं है।

सिद्धान्तः––एवं प्राप्ते ब्रूमः, सहकार्यन्तरविधिः, इति । तद्वतः विद्यावतः, विध्यादिवत् विधीयते इति यज्ञादिः सर्वाश्रमधर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते, आदिशब्देन श्रवणमनने गृह्येते, सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि, विधीयत इति विधिः, सहकार्यन्तरं विधिश्चेति सहकार्यन्तरविधिः । एतदुक्तं भवति– यथा–"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन" इत्यादिना "शांतो दान्तः" इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिः शमदमादिश्च विधीयते; यथा च "श्रोतव्यो मंतव्यः" इति श्रवणमननेचार्थं प्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते, तथा "तस्माद् ब्राह्मणा पांडित्यं विधीयते इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "सहकार्यन्तर विधिः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। विद्या संपन्न शास्त्रीय यज्ञादि विधि की तरह मौन भी बिहित है। जो विहित हो उसे ही विधि कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे ही आश्रम धर्म और शम दम आदि साधन सभी विधि हैं। आदि शब्द से श्रवण और मनन भी ग्राह्य हैं। विधि शब्द का अर्थ है-विहित बिधि का विषय। सहकार्यन्तरविधि का तात्पर्य है-जो विधि विहित हो। कहने का तात्पर्य यह है कि-जैसे "ब्रह्मनिष्ठ वेदविहित यज्ञ और दान द्वारा आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' इत्यादि और "शान्तो दान्तः" इत्यादि वाक्यों से सहकारी यज्ञ आदि क्रिया एवं शम दम आदि विहित हैं तथा "श्रोतव्यः मंतव्यः" इत्यादि से श्रवण और मनन का विधान बतलाया गया है वैसे ही-"तस्माद ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादि वाक्य से पांडित्य बाल्य और मौन तीनों को ही, विद्या के सहकारी रूप से विहित कहा गया है।

मौनं च पांडित्यादर्थान्तरमित्याह-पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोग दर्शनात् मौनंपांडित्यबाल्य-योर्द्वयोः तृतीयम्। यद्यपि "अथ मुनिः" इत्यत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयते, तथापि मौनस्याप्राप्तत्वात् विधेयत्वमंगीकरणीयम्-अथ मुनिः स्यात्-इति। इदं च मौनं श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरमुपासना-लंबनस्य पुनः पुनः संशीलनं तद्भावनारूपम्।

मौन और पांडित्य दोनों भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं। मुनि शब्द की प्रकृष्ट मनन शील, व्यास आदि में विशेष प्रयोग देखा जाता है जिससे ज्ञात होता है कि मुनि, पांडित्य और बाल्य से भिन्न तीसरी वस्तु है। यद्यपि "अथ मुनिः" में विधि प्रत्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी अन्यत्र कहीं भी मौन विधि का प्रयोग न होने से इस वाक्यांश में ही विधि प्रत्यय की कल्पना करनी होगी। सुनी हुई वस्तु की धारण के लिए जिस मनन वृत्ति का विधान है, यह मौन उससे भिन्न स्वतंत्र वृत्ति है, यह उपासना के आलंबन की, चिन्ताप्रवाहात्मक उपास्य भावनारूप एक वृत्ति विशेष है।

ankurnagpal108@gmail.com

तदेवं वाक्यार्थः, ब्राह्मणः विद्यावान् पांडित्यं निर्विद्य, उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः। तच्चभगवद्भक्तिकृतसत्त्वविवृद्धिकृतम्। यथोक्तं–"नाहंवेदैः "इत्यारभ्य "भक्त्यात्वनन्यया शक्यः ज्ञातुम्" इति। श्रुतिश्च–"यस्यदेवे पराभक्तिः" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादिका। बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यस्वरूपंचानन्तरमेव वक्ष्यते, बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः स्यात्-बाल्यपांडित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णे ब्रह्मणि मननशीलोभवेत्, निदिध्यासनरूपविद्या प्राप्तये। एवमेव त्रितयोपादानेन लब्धविद्योभवतीत्याह "अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति। अमौनं मौनेतर सहकारि कलापः, तं च मौनं च यथावदुपाददानो विद्याकाष्ठां तदेक निष्पाद्यां लभेतेत्यर्थः। "स ब्राह्मणः केन स्यात्" उक्तादुपायात् किमन्योऽप्युपायोऽस्तीतिपृष्टे "येन स्यात्तेनेदृश एव" इति येन मौन पर्यन्तेन ब्राह्मणः स्यादित्युक्तम् तेनैवेदृशः स्यात् न केनाप्यन्येनोपाये-नेति परिहृतम्! अतः सर्वेष्वाश्रमेषु स्थितस्यविदुषोयज्ञादिस्वाश्रम-धर्मवत् पांडित्यादिकं मौन तृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते।

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि– ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति विद्या-वान, पांडित्य अर्थात् विद्या प्राप्तकर, उपासना द्वारा विशुद्ध परिपूर्ण, उपास्य ब्रह्म तत्व को जानकर, श्रवण और मनन से, अप्राप्त वेदन (उपासनात्मक ज्ञान) को प्राप्त करे, जो कि भगवद्भक्तिकृत् सत्व गुण से बढ़ाया गया है। जैसा कि–"नाहं वेदैः" से लेकर "भक्त्या त्वनन्या-शक्यः ज्ञातुम्" तक गीता में और "यस्य देवे पराभक्ति" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है।

"बाल्यंतिष्ठासेत्" में जो बाल्य का स्वरूप बतलाया गया है उसे आगे बतलावेंगे। "बाल्य ओर पांडित्य को अच्छी तरह जानकर मुनि होते हैं" इत्यादि का तात्पर्य है कि–बाल्य और पांडित्य के रूप में अभ्यस्त

ankurnagpal108@gmail.com

होकर निदिध्यासन रूप विद्या की प्राप्ति के लिए परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में मननशील होवे। इस प्रकार–बाल्य–पांडित्य और मौन के अनुशीलन से आत्मविद्या का ज्ञान होता है यही "अमौन और मौन दोनों से अधिगत होकर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं" इत्यादि वाक्य में दिखलाया गया है। मौन के अतिरिक्त विद्या के सहकारी सभी साधन अमौन हैं। जो व्यक्ति मौन और अमौन को विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं, वे भगवन्निष्ठात्मक विद्या की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रश्न किया गया है कि–"वह ब्रह्मनिष्ठ इन उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय के भी आश्रित होता है या नहीं?" इसका उत्तर दिया गया कि–"येन स्यात् तेनदृश एव" अर्थात् मौन तक जिन साधनों की सहायता से ब्रह्मनिष्ठ होता है वे ही हैं अन्य नहीं। इसलिए सभी आश्रमों में स्थित उपासकों को यज्ञादि आश्रम धर्मों की तरह, पांडित्य बाल्य मौन आदि विद्या के सहकारी साधनों का पालन करना चाहिए।

अथ स्यात् सर्वेष्वाश्रमेषु, स्थितानां विदुषः तत्तदाश्रमधर्म सहकारिणी मौनतृतीय सचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्ति साधनमुच्यते, कथं तर्हि छांदोग्ये–"अभिसमावृत्य कुटुंबे शुचौ देशे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिदर्शनमुपपद्यते। अत आह—

प्रश्न होता है कि यदि सभी आश्रमों में स्थित उपासकों के लिए मौन आदि युक्त विद्या को ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन कहा गया है तो छांदोग्य–में "विद्याध्ययन समाप्त कर पवित्र ग्रहस्थ आश्रम में–"तथा–"वह जीवन पर्यन्त ऐसा करते हुए ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता" इत्यादि से जीवन पर्यन्त ग्रहस्थाश्रम में ही रहने का समर्थन क्यों किया गया है? इसी का उत्तर देते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः।३।४।४७॥

तु शब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, कृत्स्नभावात्–कृत्स्नेषु भावात् कृत्स्नेष्वाश्रमेषु विद्यायाः सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्तीति तेनोपसंहारः

ankurnagpal108@gmail.com

तस्मात् सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थो गृहिणोपसंहारः, इत्यभिप्रायः ।

तु शब्द उक्त शंका का व्यावर्त्तक है। सभी आश्रमों में विद्यानुशीलन का अधिकार है, ग्रहस्थ में भी है, इसलिए छांदोग्य में केवल ग्रहस्थ प्रकरण का उपसंहार किया गया है। सभी आश्रम धर्मों का प्रदर्शन करने के लिए ही ग्रहस्थ धर्म में उपसंहार किया गया है।

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये "ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति" इति पारिव्राज्यक्रांत धर्मं प्रतिपाद्य "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादिना पारिव्राज्यधर्मस्थितिहेतुक मौनतृतीय सहकारविधानं प्रदर्शनार्थ मित्याह—

उसी प्रकार इसी वाक्य में "ब्रह्मनिष्ठ पुत्रेषणा, वित्तेषणा, और लोकेषणा से उत्तीर्ण होकर भिक्षाटन करते हैं "इत्यादि पारिव्राजक धर्म का प्रतिपादन करके "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विध" इत्यादि से पारिव्राजक धर्म के रक्षक मूलभूत मौन आदि सहकारी साधनों का प्रदर्शन किया गया है, ऐसा विवेचन करते हैं—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४८॥

सर्वेषणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वक मौनोपदेशः सर्वेषां आश्रमधर्माणां प्रदर्शनार्थः, कुतः? एवं विधिमौनोपदेशवदितरेषामाश्रमिणां अपि "त्रयो धर्मस्कंधः" इत्यारभ्य "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपदेशात् । उपपादितश्च पूर्वमेव ब्रह्मसंस्थ शब्दः सर्वाश्रमिसाधारण इति । अतः सुष्ठूक्तं—यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मवन्मौन तृतीयः पांडित्यादिर्विद्या सहकारित्वेन विधीयते-इति ।

सभी एषणाओं से मुक्त, भिक्षाटन पूर्वक मौनोपदेश सभी आश्रमों के धर्मों के स्वरूप के प्रदर्शन के लिए है। ऐसे मौनोपदेश की तरह अन्य आश्रमवासियों के लिए "त्रयो धर्मस्कंधाः" से लेकर "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" तक ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मसंस्थ, प्रायः सभी

ankurnagpal108@gmail.com

21283

आश्रमों के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द है, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि-यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मों की तरह मौन पांडित्य आदि विद्या सहकारी साधन भी विहित हैं।

१३. अनाविष्काराधिकरण:-

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।३।४।४६॥

"तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र विदुषा बाल्यमुपादेयतयाश्रुतम्। बाल्यस्य भावः कर्म वा बाल्यम् बालभावस्य वयोवस्थाविशेषस्यानुपादेयत्वात् कर्मेवेह गृह्यते। तत्र किं बाल्यस्य कर्म कामचारादिकं सर्वं विदुषोपादेयम् उत् डम्भादि रहितत्वम् एव ? इति विशये विशेषाभावात् सर्वमुपादेयम्, नियम शास्त्राणि च विशेष विधानाऽनेन बाध्यंत इति।

"तस्माद् ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्य में साधक के लिए बाल्य भाव की उपादेयता बतलाई गई है। बाल्य का भाव या कर्म ही बाल्यत्व है, अवस्था विशेष रूप जो बाल भाव है उसका तो स्वेच्छा से पालन किया नहीं जा सकता, इसलिए बाल्य का अर्थ बाल्य कर्म ही समझा जायेगा। बालक की जो स्वेच्छाचारिता है वही साधक के लिए उपादेय है अथवा बालक की जो अहंकार शून्यता आदि है केवल वही उपादेय है ? इस पर विचारने पर मत होता है कि—उक्त वाक्य में कोई विशेषोल्लेख तो है नहीं इसलिए सभी भाव उपादेय हैं। स्वेच्छाचारिता के निवारक जो नियम शास्त्र हैं वे सभी इस विशेष विधि शास्त्र से बाधित हो ही जाते हैं।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-अनाविष्कुर्वन्निति। बालस्य यत् स्वभावानाविष्कार रूपं कर्म तदुपाददानो वर्त्तेत विद्वान्। कुतः ? अन्वयात्-तस्यैवान्वयात्। "बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यस्मिन् विधौ तस्यैव ह्यन्वय संभवः, इतरेषां विद्याविरोधित्वश्रवणात् "नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो ना समाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

बालक जो स्वाभाविक अनाविष्कृत कर्म है, वही साधक के लिए उपादेय है। उसी की वाक्य के साथ संगति बैठ सकती है। "बाल्यं तिष्ठासेत्" में उक्त तात्पर्य ही निहित है, अन्य जो स्वेच्छाचारिता आदि हैं, उन सब को तो विद्या विरोधी कहा गया है "जो दुश्चरितों से अशांत नहीं होते, असमाहित नहीं होते, अशांत चित्त नहीं होते, वे ही प्रकृष्ट ज्ञान द्वारा परम पुरुष को प्राप्त करते हैं' आहार शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है' इत्यादि वाक्य में भी बालकोचित स्वेच्छाचारिता आदि कर्मों को विरोधी कहा गया है।

१४ ऐहिकाधिकरणः—

ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे तद्दर्शनात् ।३।४।५०॥

द्विविधा विद्या अभ्युदयफला, मुक्ति फला च। तत्राभ्युदयफला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, उत अनन्तरं कालान्तरे वेत्यनियमः ? इति संशयः। पूर्वकृतैः पुण्यकर्मभिः विद्वान जायते, यथोक्तं भगवता "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन" इति। साधने निवृत्ते विलम्बहेत्वभावात् अनन्तरमेव।

विद्या दो प्रकार की है, एक अभ्युदय फल वाली दूसरी मुक्तिफल वाली। जो अभ्युदय फल वाली विद्या है, वह अपने साधन रूप पुण्य कर्मों द्वारा तत्काल ही फल प्रदान करती है, अथवा कालान्तर में ? इस पर विचारने से मत होता है कि—पूर्वकृत पुण्य कर्मों के प्रभाव से ही लोग विद्वान होते हैं जैसा कि—भगवान ने कहा भी है—"अर्जुन ! सुकृत लोग मुझे चार प्रकार से भजते हैं" इत्यादि। कारण के रहते हुए कार्योत्पत्ति में विलम्ब हो यह बेतुकी सी बात है। इसलिए साधना के बाद ही फल मिलता है ऐसा ही मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे—इति ऐहिकमभ्युदयफलमुपासनम्, अप्रस्तुत प्रतिबंधे—अप्रस्तुते प्रबलकर्मान्तरा प्रतिबंधे सत्यनन्तरं, प्रतिबंधे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः

ankurnagpal108@gmail.com

कुतः ? तद्दर्शनात्—दृश्यते हि प्रबलकर्मान्तरेण कर्मफल प्रतिबंधा भ्युपगमः श्रुतौ "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युदगीथविद्यायुक्तस्य कर्मणः फला प्रतिबंध श्रवणात् ।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अन्य प्रबल प्रतिबन्धक कर्मों के न होने पर ही अभ्युदयजनक विद्या का फल इस शरीर से प्राप्त हो सकता है, प्रतिबंधक कर्मों के क्षय होने पर फलावाप्ति होती है, इस विषय में कोई निश्चित नियम है भी नहीं। देखा जाता है कि—अन्य प्रबल कर्म ही, फलावाप्ति में बाधक हो जाते हैं, तथा प्रबलतर साधन से प्रतिवन्धक कर्मों का नाश भी हो जाता है जैसा कि—"विद्या श्रद्धा और उपनिषद् द्वारा जो किया जाता है वही प्रबलतर होता है" इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। इस वाक्य में उद्गीथ विद्यायुक्त कर्म को फल का अप्रतिबंधी कहा गया है।

१५ मुक्तिफलाधिकरणः—

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५१॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधन भूतैरतिशयित कर्मभिरुत्पत्तावेवमेव फलानियमः, तस्यापि पूर्ववत् प्रतिबंधाभाव प्रतिबंध समाप्तिरूपावस्थावगतेः, अत्रापितस्य हेतोः समानत्वादित्यर्थः ।

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविद्या साधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात् प्रतिबंधासंभव इत्याधिका शंका ।

अत्रापि ब्रह्मविदपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां संभवात् प्रतिबंध संभव इति परिहारः, द्विरुक्तिरध्याय परिसमाप्तिं द्योतयति ।

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या के साधन रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्मों से विद्या की उत्पत्ति हो जाने पर भी उक्त प्रकार की ही अनियमित फल व्यवस्था है. इस स्थिति में भी प्रतिबन्धाभाव होने पर ही फलावाप्ति हो सकती है, प्रबलतम प्रतिबन्धक कर्म ही प्रतिबन्धी कर्मों को नष्ट कर फलोन्मुख कर सकता है इस पर विशेष शंका यह होती है कि फल की साधक–मुक्ति जिस कर्म से प्रकट होती है, वह कर्म अन्यान्य कर्मों से तो निश्चित ही प्रबलतम होता है, इसलिए अन्य कर्म उसके प्रतिबंधक हो सकते हैं ? उपासक का अपकारी कोई प्रबलतम प्राक्तन कर्म ही प्रतिबंधक होता है । सूत्र में की गई द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की द्योतक है ।

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ—अध्याय

प्रथम पाद

१. आवृत्यधिकरणः—

आवृत्ति सकृदुपदेशात् ।४।१।१॥

तृतीय अध्याये साधनैः सह विद्या चिन्तिता । अथेदानीं विद्या स्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चिन्त्यते ।

तीसरे अध्याय में साधनों के साथ विद्या पर विचार किया गया । अब विद्या के स्वरूप पर विमर्श करते हुए विद्या के फल पर विचार करते हैं ।

तत्र "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं "इत्यादि वेदांत वाक्येषु ब्रह्मप्राप्ति साधनतया विहितंवेदनं किं सकृत-कृतमेव शास्त्रार्थः उत असकृत् आवृत्तमिति ? संशयः, किं युक्तम् ? सकृतकृतमिति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति वेदनमात्रस्यैव विधानात्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । न चावघातादिवद् वेदनस्य ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति दृष्टोपायत्वाद्यावत् कार्यमावृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादि कर्माणि, वेदांतविहितं च वेदनं परं पुरुषाराधनरूपम्, आराधि-ताच्च परमपुरुषात् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतोज्योतिष्टोमादिवद् यथाशब्दं सकृतकृतमेव शास्त्रार्थः ।

ankurnagpal108@gmail.com

"ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है" उसे जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" जब दृश्य रुक्मवर्ण को देखना है" इत्यादि वेदांत वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति के साधन रूप से जिस वेदन का विधान बतलाया गया है वह एक बार कर्त्तव्य है अथवा बार-बार ? ऐसा संशय होने पर विचार होता है कि–"ब्रह्म को जान ब्रह्म ही होता है" इस वाक्य में एक मात्र वेदन का विधान बतलाया गया है, इसलिए एक बार की जानकारी ही विहित है, बार-बार की आवृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता। वेदन ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपाय तो है नहीं जिससे कि–प्रत्यक्ष ब्रह्म में उसे बार-बार स्पर्श कराया जा सके, ब्रह्म और वेदन दोनों ही परोक्ष हैं जो एक बार ही संभव हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और वेदांत विहित वेदन दोनों ही परंपुरुष के आराधनरूप उपाय हैं, इनसे परम पुरुष की आराधना करने पर धर्म-अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा "फलमत उपपत्तेः" में प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्योतिष्टोम आदि की तरह वेदन भी एक शास्त्रीय साधन (शब्द) है जो कि एक बार ही कर्त्तव्य है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-आवृत्तिरसकृत्-इति। असकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः कुतः? उपदेशात्-ध्यानोपासनपर्यायेण वेदनशब्देनोपदेशात्। तत्पर्यायित्वं च विद्युपास्तिध्यायतीनामेकस्मिन् विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते। अथाहि–"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इत्युपासनोपक्रांतोऽर्थः "भाति च तपति च कीर्त्या यशसाब्रह्मवर्चसेन स एवं वेद" इति विदिनोपसंह्रियते। तथा "यस्तद् वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्युपक्रमे विदनोक्तं रैक्वस्य ज्ञानम् "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इत्युपासिनोपसंह्रियते तथा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्य समानार्थेषु वाक्येषु "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं तत ध्यायमानः" इत्यादिषु ध्यायतिना वेदनमभिधीयते ध्यानं च चिन्तनं, चिन्तनं च स्मृति

ankurnagpal108@gmail.com

संततिरूपम्, न स्मृतिमात्रम्, उपास्तिरपि तदेकार्थः एकाग्र चित्तवृत्तिनैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात् तदुभयैकार्थ्यात् असकृदावृत्त सन्ततस्मृतिरिह ब्रह्मवेद "ब्रह्मैव भवति" ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः इत्यादिषु वेदनादिशब्दैरभिधीयते, इति निश्चीयते ।

उत मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि-वेदन पुनः पुनः आवृत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त है। शास्त्रों में ध्यान और उपासना आदि शब्दों के पर्याय रूप से वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदनोपदेश परक वाक्यों में, प्रायः, वेदन ध्यान और उपासना आदि शब्द, एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। जैसे कि-"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में जो उपासना शब्द से अभिधेय है वही "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" इत्यादि में वेदन शब्द से विधेय है। तथा-"यस्तद वेद" इत्यादि वेद शब्द से उल्लेख्य रैक्व के ज्ञान का "अनुमएतां भगवो" में उपासना से उपसंहार किया गया है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" वाक्य के समानार्थक "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" आदि वाक्यों में वेदन अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्यान और चिन्तन समानार्थक हैं, प्रवाहमयी स्मृति को ही चिन्तन कहते हैं, केवल स्मृति को चिंतन नहीं कह सकते, उपासना शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। एकाग्रचित्तवृत्ति और निरन्तर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है इसलिए "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" "ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि में प्रयुक्त वेदन आदि शब्द निरन्तर स्मृतिरूप पुनः पुनः आवृत्ति अर्थ के ही ज्ञापक हैं ऐसा निश्चित होता है।

लिंगाच्च ।४।१।२॥

लिगं, स्मृतिश्चायमर्थोऽवगम्यते । स्मर्यते हि मोक्ष साधनभूतं वेदनं स्मृति संततिरूपम् "तद्रूपप्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा, तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरगैर्निष्पाद्यते तथा" इति तस्माद सकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ।

लिंग का तात्पर्य है स्मृति। इसी अर्थ में स्मृति भी वेदन शब्द का प्रयोग करती है। मोक्ष की साधन रूप प्रवाहमयी स्मृति को ही स्मृति

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्र में भी वेदन कहा गया है, जैसे कि–"तद्रूप प्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगै निष्पाद्यते तथा"इत्यादि। इसलिए वेदन शब्द का अर्थ सकृत आवृत्ति ही निश्चित होता है।

२ आत्मत्वोपासनाधिकरणः—

आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च ।४।१।३।।

इदमिदानीं चिंत्यते-किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्, उतोपासितुरात्मत्वेन-इति। किं युक्तम्? अन्यत्वेनेति कुतः उपासितुः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वाद् ब्रह्मणः अर्थान्तरत्वं च "अधिकं तु भेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात् "नेतेरोऽनुपपत्तेः" इत्यादिषूपपादितम्। यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम्, अयथोपासने हि ब्रह्मप्राप्तिरप्ययथाभूतास्यात्–"यथाक्रतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति न्यायात्। अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति।

अब विचारते हैं कि–उपास्य ब्रह्म की, उपासक से भिन्न मानकर उपासना की जानी चाहिए अथवा उपासक से अभिन्न मानकर? इस पर विचारने से मत होता है कि–भिन्न मानकर ही करनी चाहिए क्योंकि उपासक जीवात्मा की परमात्मा से स्वाभाविक भिन्नता है, "अधिकं तु भेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात्" "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादि सूत्रों में इन दोनों की भिन्नता का समर्थन भी किया जा चुका है। ब्रह्म की उपासना एक निश्चित वस्तु है यदि उपासना को निश्चित नहीं मानेंगे तो, ब्रह्म भी अनिश्चित हो जायेगा, ऐसा ही "जैसा इस लोक में आचरण करता है वैसा ही मृत्यु के बाद होता है" इस नियय से ज्ञात होता है। इसलिए भिन्न मानकर ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-आत्मेति तु-इति। तु शब्दोऽवधारणे, उपासितुरात्मेत्येवोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वयं स्वशरीरस्य यथा आत्मा,तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासोत्यर्थः। कुतः? एवं हि उतगच्छन्ति पूर्वे उपासितारः"त्वं वाअहमस्मि

ankurnagpal108@gmail.com

भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथनमप्युपगच्छंतीत्यत्राह-ग्राहयंति च-इति । इममर्थमविरुद्धमुपासितृ न ग्राहयंति शास्त्राणि-तान् प्रत्युपादयंतीत्यर्थः ।

सिद्धान्त-उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं "आत्मेति तु" तु शब्द अवधारणार्थक है उपासक की आत्मा में ही उपास्य का चिन्तन करना चाहिए । उपासक जीवात्मा जैसे अपने शरीर का आत्मा है, वैसे ही उसका आत्मा, परमात्मा है जो कि उपास्य है। ऐसा ही "हे भगवोदेवते! तू ही मै हूँ और मैंही तुम हो" इत्यादि पूर्व उपासकों के भाव से ज्ञात होता है। उपासक से भिन्न परब्रह्म को उपासक, मैं हूँ ' ऐसा कैसे कह सकता है। इस पर सूत्रकार कहते हैं "ग्राहयंति च" अर्थात् उपासक का ही ऐसा भाव नहीं है अपितु इसी अर्थ का शास्त्र भी प्रतिपादन करते हैं।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति तथा-"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं "सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इति च सर्वस्यचिदचिद्वस्तुनस्तज्जातत्वात्तज्जलत्वादनत्वात्तन्नियाम्यत्वाच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स आत्मा, अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् "देवोऽहं मनुष्योऽहम्" इत्यनुसंधानं, तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मात्वात् परमात्मनः तस्याप्यहमित्येवानुसंधानं युक्तमिति ।

"जो आत्मा में स्थिर है, जिसे आत्मा नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा का संयमन करता है वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" तथा "हे सोम्य! ये सारी प्रजा सन्मूला सदायतना और सत्प्रतिष्ठा है यह सारा जगत आत्म्य है" यह सब कुछ ब्रह्म है, उसी से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन है "इत्यादि वाक्यों में समस्त चिदचिद् वस्तु को उस परमात्मा से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन बतलाते हुए उसी से नियत और उसका शरीर स्थानीय दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि यह परमात्मा सब की आत्मा है।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि–जीवात्मा अपने शरीर का आत्मा होने के कारण "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि अनुभव करता है वैसे ही जीवात्मा अपने आत्मा परमात्मा में भी "तुम मैं हो" ऐसी अनुभूति करता है तो क्या असंगति है।

एवं शास्त्रैरुपपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमुपगच्छंतः "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिरेकेणोक्तवन्तः, एवं च "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद"–अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत्"–"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यात्मत्वाननुसंधान निषेधः। "पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा" इति पृथक्त्वानुसंधानविधानं चाविरुद्धम् अहमिति स्वात्मतयाऽनुसंधानादन्यत्वानुसंधाननिषेधो रक्षितः, स्वशरीरात्मनोऽधिकत्वानुसंधानवत् स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसंधानात् पृथक्त्वानुसंधानविधानं च रक्षितम्। अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आत्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वात् निषेध वाक्ये "अकृत्स्नो ह्येषः" इत्युक्तम्। अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम्।

"हे भगवो देवते! तुम मैं हूँ, और मैं तुम हो" इत्यादि में जो व्यतिरेक भाव से अभिन्नता दिखलाई गई है, वह सभी बुद्धियों की ब्रह्मैकनिष्ठता और सभी शब्दों की ब्रह्मैकनिष्ठता परिलक्षित करती है तथा "जो देवता की भिन्न भाव से उपासना करते हुए यह विचारता है कि मैं भिन्न हूँ वह नहीं जानता" इत्यादि में आत्मत्व के अनुसंधान न करने का निषेध किया गया है। "आत्मा और प्रेरिता को पृथक मानकर" इत्यादि में जो पृथकता के अनुसंधान का विधान बतलाया गया है वह अविरुद्ध है। अहं से किये गये अपने आत्मा के अनुसंधान से अन्यत्व के अनुसंधान का निषेध हो जाता है तथा अपने शरीर से श्रेष्ठ अपने आत्मा के अनुसंधान की तरह अपने आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा के अनुसंधान के विधान से पृथकता के अनुसंधान की बात भी बन जाती है। परमात्मा जीवात्मा से श्रेष्ठ है तथा जीवात्मा उसका

ankurnagpal108@gmail.com

शरीर है, यही बात "अकृत्स्नो ह्येष" इत्यादि निषेध वाक्य में बतलाई गई है। इससे सिद्ध होता है कि—उपासक के आत्मा के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

३. **प्रतीकाधिकरणः—**

न प्रतीके न हि सः ।४।१।४॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते "इत्यादि प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, उत न? इति चिन्तायां" मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इति ब्रह्मोपासनत्वसाम्याद्-ब्रह्मणश्चोपासितुरात्मत्वादात्मेत्येवोपासीतेति ।

"मन को ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में जो प्रतीकोपासना बतलाई गई हैं उनमें आत्मत्व का अनुसंधान करना चाहिए या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में ब्रह्मोपासनत्व का साम्य है इसलिए उपासक के आत्मा ब्रह्म की, मन में, आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रतीके—इति। प्रतीके-नात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, न हि सः, न हि उपासितुरात्मा प्रतीकः। प्रतीकोपासनेषु प्रतीकएवोपास्यः, न ब्रह्म। ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम् प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्म दृष्ट्या-नुसंधानम्, तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथाऽनुसंधेयम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "न प्रतीके" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि— प्रतीक में आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, प्रतीक उपासक की आत्मा नहीं है। प्रतीकोपासना में प्रतीक ही उपास्य होता है ब्रह्म नहीं होता। उसमें तो ब्रह्मदृष्टि मात्र होती है अब्रह्म वस्तु में, ब्रह्म दृष्टि के अनुसंधान को ही प्रतीकोपासना कहते हैं। प्रतीक में आत्मत्व का अभाव है इसलिए उसमें उपासक के आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

नन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्, ब्रह्मणउपास्यत्वसंभवे मन आदीनामचेतनानामल्पशक्तीनां चोपास्यत्वाश्रवणस्यान्याय्यत्वात् । अतो मन आदि दृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति–अत आह–

(तर्क) प्रतीकों में भी ब्रह्म ही उपास्य है यदि प्रतीकों को ब्रह्म मानकर उपासना नहीं करेंगे तो मन आदि अत्यल्प शक्तिवाले अचेतनों को उपास्य मानना असंगत होगा, इसलिए मन आदि दृष्टि से ब्रह्म को ही उपास्य समझना चाहिए । इस पर कहते हैं–

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५॥

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता, न ब्रह्मणि मन आदि दृष्टिः ब्रह्मणो मन आदिभ्य उत्कर्षात्, तेषां च विपर्ययात् । उत्कृष्टे हि राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी, भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय ।

मन आदि प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि करना ही सुसंगत है ब्रह्म में मन आदि दृष्टि करना संगत नहीं है क्योंकि–ब्रह्म, मन आदि से उत्कृष्ट तत्त्व है, वह मन आदि से श्रेष्ठ व्यापक है । श्रेष्ठ राजा में भृत्य दृष्टि करना अपराध है, भृत्य में राज दृष्टि की जा सकती है वह भृत्य के उत्कर्ष की द्योतिका है ।

४. **आदित्यादिमत्यधिकरणः–**

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ।४।१।६॥

"य एवासौ त पति तमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादिषु कर्मांगाश्रयेषु उपासनेषु संशयः, किमुद्गीथादौ कर्मांगे आदित्य दृष्टिः कर्त्तव्या उत आदित्यादिषु उद्गीथादि दृष्टिः ? इति । उत्कृष्ट दृष्टिर्निकृष्टे कर्त्तव्येति न्यायात् उद्गीथादीनां च फलसाधनभूत कर्मांगत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः ।

ankurnagpal108@gmail.com

"य एवासौ तपति" इत्यादि कर्मांगाश्रित उपासनाओं के कर्मांग उद्‌गीथ आदि में आदित्य दृष्टि करना चाहिए अथवा आदित्य आदि में उद्‌गीथ आदि दृष्टि करनी चाहिए ? निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करना चाहिए, इस नियम के अनुसार और कर्मांग होने से फलसाधनभूत उद्‌गीथ आदि आदित्य आदि से उत्कृष्ट ही निश्चित होते हैं इसलिए उद्‌गीथ आदि दृष्टि ही समीचीन प्रतीत होती है

सिद्धान्तः——एवं प्राप्तेऽभिधीयते–आदित्यादिमतयश्चांगे-इति च शब्दोऽवधारणे, ऋत्वंगे उद्‌गीथादावादित्यादिदृष्टय एव कार्याः, कुतः उपपत्तेः, आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः, आदित्यादि देवताराधन द्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्, अतस्तद्दृष्टिरुद्‌गीथाद्यंगे ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "आदित्यादिमतय" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि– ऋत्वंग उद्‌गीथ आदि में आदित्य आदि दृष्टि ही करना चाहिए, आदित्य आदि ही उत्कृष्ट, निश्चित होते हैं। आदित्य आदि देवताओं के आराधना के द्वारा ही कर्म की फल साधनता होती है, इसलिए उद्‌गीथ आदि अंगों में उनकी दृष्टि करना ही युक्ति युक्त है।

५. आसीनाधिकरणः–

आसीनः संभवात् ।४।१।७॥

मोक्षसाधनतया वेदांतशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यमसकृदावृतं संततस्मृतिरूपमित्युक्तम्। तदनुतिष्ठन्नासीनः शयानः तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत् ।

मोक्ष साधक होने से, वेदांत शास्त्र विहित-ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य ज्ञान को निरन्तर स्मृति स्वरूप अभ्यास बतलाया गया है, जो कि उठते बैठते चलते फिरते सोते, बिना किसी नियम के ही हो सकता है।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते--आसीनः, इति। आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् कुतः ? संभवात् आसीनस्यैव हि एकाग्रचित्तता-संभवः, स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयनेन निद्रा संभवात्। पश्चार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाश्रये आसीनः कुर्यात्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं "आसीनः संभवात्" अर्थात् बैठकर ही उक्त प्रकार का अभ्यास संभव हो सकता है, बैठने पर ही चित्त की एकाग्रता हो सकती है, खड़े होकर या चलते-फिरते अभ्यास का होना तो, प्रयास करने पर ही संभव हो सकता है। सोते हुए करना निद्रा के कारण संभव नहीं है। बिना किसी प्रयास और चेष्टा के अभ्यास की सिद्धि तो बैठकर ही हो सकती है, इसलिए बैठकर ही अभ्यास करना चाहिए।

ध्यानाच्च ।४।१।८॥

"निदिध्यासितव्यः" इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकाग्रचित्तताऽवश्यम्भाविनी। ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमित्युक्तम्।

"निदिध्यासितव्यः" कहकर उपासना को ध्यान रूप बतलाया गया है, इसलिए ध्यान रूप उपासना में एकाग्रचित्तता अवश्य होनी चाहिए। ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण न होकर एकमात्र ध्येय का ही अखंड चिन्तन होना ही ध्यान कहलाता है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९ ॥

निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते, "ध्यायतीव पृथवी, ध्यायतीवांतरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्तीवापो, ध्यायन्तीव पर्वताः" इति। अतः पृथिवीपर्वतादिवदेकाग्रचित्ततया निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव संभवेत्।

ध्यान में निश्चलता अपेक्षित है यही बात "ध्यान करती सी पृथ्वी, ध्यान करता सा आकाश, ध्यान करता सा जल, ध्यान करते से

ankurnagpal108@gmail.com

पर्वत" इत्यादि में दिखलाया गया है। पृथ्वी पर्वत आदि की तरह निश्चल होने पर ही उपासक में एकाग्रचित्तता संभव है जो कि बैठने पर ही हो सकती है।

स्मरंति च ।४।१।१०॥

स्मरंति चासीनस्यैव ध्यानं "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्"—तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः, उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।" इति।

स्मृति में भी बैठकर ही ध्यान करने का विधान मिलता है—"पवित्र स्थान में न अति ऊँचे न अति नीचे कुश अजिन वस्त्र वाले स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्म शुद्धि के लिए चित्त और इन्द्रियों की चेष्टाओं का संयमन करना चाहिए" इत्यादि।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११॥

एकाग्रतातिरिक्त देशकालविशेषाश्रवणादेकाग्रतानुकूलो योदेशः कालश्च, स एवोपासनस्य देशः कालश्च। "समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते" इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह, न तु देशं नियच्छति "मनोऽनुकूले" इति वाक्यशेषात्।

मन की एकाग्रता के अनुकूल जो स्थान और समय हो वही उपासना का स्थान और समय है, किसी विशेष स्थान और समय का उल्लेख नहीं मिलता। "सम पवित्र कंकड़ों, बालू अग्नि आदि से रहित स्थान में" इत्यादि वाक्य में जो स्थान का निर्देश किया गया है वह एकाग्रता के अनुकूल स्थान का ही सूचक है किसी स्थानविशेष का निर्धारक नहीं है। उक्त वाक्य के अन्त में "मनोऽनुकूले" कह कर उक्त आशय को स्पष्ट कर दिया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

६. आप्रयाणाधिकरणः—

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२॥

तदिदमपवर्गसाधनमुक्तलक्षणमुपासनमेकाह एव संपाद्यम्, उत् आप्रयाणात्प्रत्यहमनुवर्त्तनीयम् ? इति विशये, एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृतत्वात्तावतैव परिसमापनीयम् ।

मोक्ष साधक यह उपासना एक दिन ही करना चाहिए या जीवन पर्यन्त करनी चाहिए ? इस संशय पर मत होता है कि एक बार ही शास्त्र के अर्थ के द्वारा समझ कर उपासना कर लेना चाहिए बार बार करने की क्या आवश्यकता है ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते-आप्रयाणात्-इति, आमरणादनुवर्त्तनीयम्, कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्, उपासनोद्योग प्रभृत्याप्रयाणान्मध्ये यः कालः तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनम्" स खल्वेवं-वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।" इति ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि-मृत्युपर्यन्त उपासना करनी चाहिए, शास्त्रों में, साधना को जब से प्रारंभ करो तब से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करो, ऐसा उल्लेख मिलता है "वह साधना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है", इत्यादि ।

७. तदधिगमाधिकरणः

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।४।१।१३॥

एवं विद्या स्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयतुमारभते । ब्रह्मविद्या प्राप्तौ पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयेते-"तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यंते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते" तस्यैवाऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" इत्युत्तराघाश्लेषः "तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं

ankurnagpal108@gmail.com

हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति पूर्वाघविनाशः। एतावश्लेषविनाशौ विद्याफलभूतावुपपद्येते नेति ? संशयः।

विद्या के स्वरूप पर विचार कर अब, विद्या के फल पर विचार प्रारंभ करते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने पर उपासक के आगत और अतीत पापों का अस्पर्श और विनाश बतलाया गया है—"जिसे जानने वाले से पापों का वैसे ही श्लेष नहीं होता जैसे कि कमलपत्र से जल का संबंध नहीं होता" उस आत्म तत्त्व को जानने वाले के कर्म पाप से लिप्त नहीं होते" इत्यादि में आगत पापों का अश्लेष बतलाया गया है। "जैसे कि सींक का अगला भाग अग्नि में घुसाते ही भस्म हो जाता है वैसे ही उपासक के सारे पाप भस्म हो जाते हैं" उस परावर तत्त्व को जान लेने पर उपासक के सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि में अतीत पापों के विनाश की बात आई है। इस पर संशय होता है कि—यह पापों का अश्लेष और विनाश विद्या के फल स्वरूप होता है या नहीं ?

किं युक्तम् ? नोपपद्येते इति, कुतः ? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादि शास्त्रविरोधात्। अश्लेषविनाश व्यपदेशस्तु मोक्षसाधनभूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथंचिद् विद्यास्तुति प्रतिपादनेनाप्युपपद्यते। न च विद्या पूर्वोत्तराघयोः प्रायश्चित्ततया विधीयते, येन प्रायश्चित्तेनाघ विनाशउच्यते। विद्याहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। अतो विद्यार्थवादोऽयमघविनाशाश्लेषव्यपदेश इति।

उक्त संशय पर मत होता है कि—विद्या से अश्लेष विनाश नहीं हो सकता "बिना भोगे करोड़ों कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं हो सकता" इस शास्त्र वाक्य से ऐसा ही ज्ञात होता है। मोक्ष की साधन स्वरूप विद्या के विश्लेष वाक्यों के अंत में, पाप के अश्लेष विनाश की बात आई है, जो कि—विद्या की प्रशंसा के लिए कही गई प्रतीत होती है। आगत अतीत पापों का प्रायश्चित्त विद्या से होता है, ऐसा विधान बतलाया

ankurnagpal108@gmail.com

गया हो, यह समझ में नहीं आता। विद्या को तो, ब्रह्म प्राप्ति के उपाय रूप से "ब्रह्मविदाप्नोतिपरं" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है, इसलिए विद्या से होने वाले पापों के अश्लेष विनाश की बात को अर्थवाद मात्र मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—तदधिगमे इति। विद्याप्राप्तौ पुरुषस्य विद्या माहात्म्यादुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते, कुतः एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यवगम्यते "एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" "एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते" इत्यादि व्यपदेशात्।

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से–"तदधिगमे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं; वे कहते हैं कि–विद्या की प्राप्ति हो जाने पर उपासक के सारे पापों का संश्लेष समाप्त हो जाता है जो कि विद्या का ही माहात्म्य है। शास्त्रों में विद्या का ऐसा ही माहात्म्य वर्णन किया गया है-"ऐसा जानकर पाप कर्म से आश्लिष्ट नहीं होता" उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं" इत्यादि।

न च-"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तद् हि कर्मणां फलजननसामर्थ्यद्रढिमविषयम्, एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृतानां पाप्मनां फलजननशक्तिविनाश सामर्थ्यमुत्पत्स्यमानानां च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबंधकरण सामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयोर्भिद्यते। यथा अग्निजलयो रौष्ण्यतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात् प्रामाण्यम्, एवमत्रापीति न कश्चिद् विरोधः।

"बिना भोग के कर्मों का क्षय नहीं होता" इस शास्त्र वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध भी नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न विषयक वाक्य हैं। यह वाक्य, कर्मों की फलजनन शक्ति की महत्ता का द्योतक है तथा "पापभस्म हो जाते हैं" इत्यादि वाक्य, विद्या की उत्पत्ति होने पर, अतीत पापों की फलजनन शक्ति के विनाश तथा आगत पापों की फल-जनन शक्ति के प्रतिरोध की सामर्थ्य का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार दोनों वाक्य भिन्न विषयक हैं। जैसे कि अग्नि और जल की उष्णता और

ankurnagpal108@gmail.com

शीतलता को प्रमाणित करने वाले, प्रमाणों के विषय में भेद होने से उदाहरणों में विभिन्नता होती है वैसे ही उक्त वाक्यों के विषय में भेद है, इसलिए इनमें परस्पर विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता।

अघस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतु शक्त्युत्पत्ति प्रतिबंधकरणम्। अघानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिक कर्मायोग्यतां सजातीयकर्मान्तरारंभरुचिं, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति। अघस्य विनाशकरणं-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम्। शक्तिरपि परंपुरुषाप्रीतिरेव। तदेवं विद्या वेदितुर्वेद्यात् अर्थंप्रियत्वेन स्वयमपि निरतिशय प्रिया सती वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृताघसंचयजनित परंपुरुषाप्रीतिं विनाशयति, सैव विद्या स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिमित्तपरंपुरुषाप्रीत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति। तदिमश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मंतव्यम्। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादिभिः शास्त्रैराप्रयाणादहरुत्पद्यमानाया उत्तरोत्तरातिशयभागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात्।

वैदिक कर्मों की ओर से मन को हटाने वाली वासना ही इतनी प्रबलतम शक्ति है जो कि पापों की ओर उन्मुख करती है, उसी के वशीभूत होकार मनुष्य पापों से आश्लिष्ट होते हैं। पापों से मनुष्य, वैदिक कर्मों के प्रति घृणा का भाव तथा पाप कर्मों के प्रति अभिरुचि एवं प्रमाद करने लगता है। ऐसा पाप के विनाश का तात्पर्य है, उस पाप से होने वाली शक्तिशाली प्रवृत्ति का विनाश होना। परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था ही पाप जन्य शक्तिशाली प्रवृत्ति है। ब्रह्म विद्या ऐसी शक्तिशाली बूटी है जो कि आनन्दमयी प्रणाली से परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था का निवारण करके जो कि अतीत पापों के फलस्वरूप होती है, आगत पापों से संभाव्य अनास्था का भी, संहार कर देती है। इस प्रकार विद्या का फल बतलाने वाला जो अश्लेषवचन है वह, प्रमाद के निवारण की बात बतला रहा है यही मानना चाहिए। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादि शास्त्र वचन से, जीवन पर्यन्त अनुष्ठित

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या के प्रभाव से उत्तरोत्तर दुश्चरितों से छुटकारा मिलता है, यही भाव दिखलाया गया है।

८ इतराधिकरणः—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४॥

उत्तरपूर्वाघयोर्विद्यया अश्लेषविनाशावुक्तौ, इतरस्यपुण्यस्यापि एवम्, उक्तेनन्यायेनाश्लेषविनाशौ विद्ययास्याताम्, विद्याफल विरोधित्व सामान्याद्व्यपदेशाच्च। भवति च व्यपदेशः, उभेसुकृत-दुष्कृते निर्दिश्य "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इति, "तत्सुकृतदुष्कृते-धुनुते" इति च। मुमुक्षोरनिष्टफलत्वात् सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः। सुकृतस्यापि शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य केषांचिदिष्टदर्शनाच्च विद्याया अविरोध शंकां निवर्तयितुमतिदेशः।

ननु विदुषोऽपि सेतिकर्त्तव्यताकोपासननिर्वृत्तयेवृष्ट्यन्नादि फलानीष्टान्येव, कथं तेषां विरोधात् विनाश उच्यते? तत्राह "पाते तु" इति। शरीरपाते तु तेषां विनाशः, शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानुगुणदृष्टफलानि सुकृतानि नश्यंति, इत्यर्थः।

आगत् और अतीत पापों के अश्लेष और विनाश की बात कह दी गई। ऐसी ही पुण्य की भी व्यवस्था है, उसी नियम से विद्या के द्वारा आगत अतीत पुण्यों का अश्लेष विनाश होता है शास्त्रों में पुण्य को भी मोक्ष का विरोधी बतलाया गया है। सुकृत और दुष्कृत दोनों का निर्देश करते हुए बतलाया गया कि— उसके सारे पाप विद्या से निवृत्त हो जाते हैं "वह सुकृत दुष्कृत दोनों का परित्याग कर देता है" इत्यादि। मुमुक्षु के लिए पुण्य भी अनिष्टकारी होते हैं, इसलिए उन्हें भी पाप शब्द से निर्देश किया गया है। शास्त्रीय पुण्य कर्मों का उत्तम फल होता है इसलिए किसी प्रकार वे विद्या के सहकारी हो सकते हैं, ऐसी शंका के निवारण के लिए "सुकृतदुष्कृतेधूनुते" ऐसा विशेष निर्देश करा गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) उपासक के भी कर्त्तव्य रूप से अनुष्ठित पुण्य कर्म प्रतिफलित होते देखे जाते हैं और इष्ट से प्रतीत होते हैं, उन्हे विरोधी कैसे कह सकते हैं, यदि वह विरोधी हैं तो उनका विनाश कब होता है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "पाते तु" अर्थात् शरीरपात हो जाने पर उनका विनाश हो जाता है, शरीरपात के बाद उन पुण्यों का विनाश होता है जो कि विद्या के अनुरूप प्रत्यक्ष फल देते हैं।

९ अनारब्धकार्याधिकरण:--

अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४।१।१५॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उतानारब्धकार्ययोरेव? इति विशये "सर्वेपाप्मानः प्रदूयंते" इति विद्याफलस्याविशेषश्रवणात् विद्योत्पत्त्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालचक्रभ्रमणादिवत् संस्कारवशादप्युपपत्तेरविशेषेण।

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति से, आगत अतीत सुकृतदुष्कृतों का अश्लेष विनाश बतला दिया गया। अब संदेह होता है कि—सभी पापपुण्यों का अश्लेष विनाश होता है अथवा जिनका फल अभी प्रारंभ नहीं हो पाया है उन्हीं का होता है? इस पर मत होता है कि—"सभी पाप भस्म हो जाते हैं" इस वचन से ऐसा ही ज्ञात होता है कि—विद्या से सभी पापपुण्यों का विनाश हो जाता है, जैसे कि कुम्हार का चक्का चलता है तब सभी कुछ उसमें भ्रमित होता रहता है वैसे ही विद्योत्पत्ति के बाद होने वाले सभी आरब्ध अनारब्ध पुण्यपाप, विद्या संस्कार के वश विनष्ट हो कर कुम्हार निर्मित नूतन पात्र की तरह हो जाते हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते--**अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे**--इति, विद्योत्पत्तेः पूर्वे सुकृतदुष्कृते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले एव विद्ययाविनश्यतः, कुतः? तदवधेः, "तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथसंपत्स्ये" इति शरीरपातविलम्बावधिश्रुतेः न च

ankurnagpal108@gmail.com

पुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रीत्यप्रीतिव्यतिरेकेण शरीरस्थितिहेतुभूत संस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत किया गया "अनारब्ध कार्ये एवतु पूर्वे" अर्थात् विद्या से उन्हीं का विनाश होता है जो कि-विद्योत्पत्ति के पूर्व के हैं जिन्य पुण्यपापों का फल अभी प्रारंभ नहीं हुआ है। जो कर्म फल दे रहे हैं उनके विनाश की अवधि बतलाई गयी है। "उनके विनाश में तभी तक की देर है जब तक इस शरीर से मुक्ति नहीं मिलती" इस शरीर पात विलम्बावधि बोधक श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है। शरीर में विद्या संस्कार से समुत्पन्न संस्कारों को, पुण्य पाप जन्य भगवत् प्रीति अप्रीति के आधार पर प्रमाण नहीं माना जा सकता, इस विषय में तो शास्त्र ही प्रमाण है।

१०. अग्निहोत्राद्यधिकरणः—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६॥

"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः" इति विद्याबलात सुकृतस्याप्यसंश्लेष उक्तः अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमधर्माणामपि सुकृतत्वसामान्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽनुष्ठाने ।

"इतरस्याप्यसंश्लेषः" सूत्र से बतालाया गया कि—विद्या के प्रभाव से पुण्यों का भी असंश्लेष हो जाता है। यदि ऐसा ही है तो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्रादि आश्रमधर्म जो कि पुण्य कर्म ही हैं उनका भी असंश्लेष होगा, तो उसके अनुष्ठान में प्रवृत्ति ही क्यों होगी ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—"अग्निहोत्रादि तु" इति । तु शब्दः सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः, अग्निहोत्रादिआश्रमधर्माः फलाश्लेषासंभवादनुष्ठेया एव, तदसंभवश्च तत्कार्यार्थत्वात्तेषाम् विद्याख्य कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् । कथमिदमवगम्यते ? तद्दर्शनात्, दृश्यते हि—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" इत्यादिनाऽग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वम् । विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्याससाधेयातिशयाया

ankurnagpal108@gmail.com

अहरहरुत्पाद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माण्यहरहरनुष्ठेयमेव अन्यथा-ऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तः करणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से अग्निहोत्रादि तु इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अग्निहोत्र आदि आश्रम धर्मों के फल का असंश्लेष नहीं होता इसलिए उनका अनुष्ठान करना चाहिए, उनका फल विद्या कार्य में सहयोगी ही होता है इसलिए विद्वान उपासक उनका अनुष्ठान करते हैं। "यज्ञ दान तप द्वारा वे परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्रादि को विद्या का साधक बतलाया गया है जीवन पर्यन्त किये जाने वाले विद्या के अभ्यास में, अग्निहोत्रादि कर्मों से उत्कर्ष ही होता है इसलिए आश्रम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए यदि आश्रम कर्मों का लोप हो जायेगा तो उससे अन्तःकरण दूषित होगा, जिससे विद्योत्पत्ति हो ही नहीं सकेगी।

यदि अग्निहोत्रादि साधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्थाः, विद्योत्पत्तेः प्राचीनं च सुकृतं "यावत्संपातमुषित्वा" प्राप्यातं कर्मणः "इत्यनुभवेन विनष्टम्, भुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलं "सुहृदः साधुकृत्याम्, इत्यस्य को विषयः ? तत्राहः—

(शंका) यदि अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों को विद्योत्पत्ति का सहायक मान लेंगे और अतीत पुण्यों को विद्या से विनष्ट मान लेंगे तथा प्रारब्ध फल को शरीरपात तक भोग्य मान लेंगे तो "पुण्य कर्म मित्र को मिलते हैं" इत्यादि वाक्य किन कर्मों के लिए कहा गया है ? इसका उत्तर देते हैं—

अतोऽन्यापि हि एकेषामुभयोः ।४।१।१७।।

अतः--अग्निहोत्रादि साधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि विद्याधिगमात् पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्म प्रतिबद्ध फला साधुकृत्याऽनन्तासंभवत्येव, तद्विषयमिदमेकेषांशाखिनां वचनं "तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्याम्" इति। विद्यया अश्लेषविनाश श्रुतिश्च तद्विषया।

ankurnagpal108@gmail.com

अग्निहोत्रादि विद्योत्पत्ति के सहायक पुण्यकर्मों से भिन्न विद्या प्राप्ति के पहिले और बाद के पुण्य कर्मों के फल को भी बाध करने वाले कुछ ऐसे प्रबलतम फल दायक कर्म होते हैं जो कि विद्याभ्यास से अवरुद्ध नहीं होते. उन्हीं के लिए वेद की एक शाखा में कहा गया कि– "उस उपासक का दायभाग तो पुत्र प्राप्त करते हैं और पुण्य कार्य मित्र प्राप्त करते हैं। विद्या से अश्लेष विनाश को बतलाने वाली श्रुति तो उक्त विषयक ही है ।

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधसंभवं पूर्वोक्तं स्मारयति–

अनुष्ठित कर्मों की फलावरोध की बात का पुनः उल्लेख करते हैं–

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८॥

"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथ विद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधः सूच्यते हि। अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्ध फलविषयं "सुहृदः साधुकृत्याम्" इति शाट्यायनकम् ।

"जो विद्या से किया जाता है वह प्रबलतम होता है" इस उद्गीथ विद्या के यज्ञफल की प्रबलता को बतलाने वाले वचन से अनुष्ठित कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है। ऐसे प्रबलतम शुभ कर्मों की प्राप्ति की बात ही "सुहृदः साधुकृत्याम्" में कही गई है। अर्थात् उपासक विद्या के अभ्यास से मुक्त हो जाता है, पर जो अनुष्ठान करता है उसका पुण्य उसे जन्म के चक्र में नहीं डालता उसके (आश्रम धर्मों का) पुण्य सुहृदों को मिल जाता है।

११ इतरक्षपणाधिकरणः—

भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते ।४।१।१९॥

यथोः पुण्यपापयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ताभ्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्यायोनिशरीरावसाने, उत तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा इत्यनियमः ? इति संशये "तस्यतावदेव चिरं

ankurnagpal108@gmail.com

यावन्न विमोक्ष्ये" इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणात्त-दवसाने।

जिन पुण्य पापों के अश्लेष विनाश की बात कही गई उनसे भिन्न जो प्रारब्ध पुण्य पाप हैं जो कि मुक्त होने पर ही छूटते हैं वे कब छूटते हैं ? क्या वे इस शरीर के समाप्त होने पर छूट जाते हैं जिससे विद्या प्राप्त की गई अथवा अन्य शरीर धारण करके भोगने पर छूटते हैं अथवा इसका कोई नियम नहीं है ? इस संशय पर मत होता है कि—"तस्यताव-देव चिरं" से तो ऐसा ज्ञात होता है कि– विद्या प्राप्त होने वाले शरीर से होने वाली उपासना के साथ साथ ही उनसे छुटकारा मिल जाता है।

सिद्धान्तः—–इति प्राप्त उच्यते–भोगेन तु इति। तु शब्दः पक्ष व्यावृत्यर्थः, इतरेप्रारब्धकार्ये पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमाप्त्यनंतरं ब्रह्म संपद्यते, ते च पुण्यपापे एकशरीरोपभोग्य फलेचेत् तच्छरीरावसाने संपद्यते, अनेकशरीर-भोग्यफले चेत् तदवसाने संपद्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्ध-फलयोः कर्मणोः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते, देहावधि नियमा-श्रवणात्।

तदेवं ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनंतं विद्यामाहात्म्याद् विनश्यति, विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यत्ति, तत्र पुण्य रूपं सर्वविदुषः सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विषन्त इति निरवद्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "भोगेन तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं सूत्र में तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है। इतर जो प्रारब्ध पुण्य पाप के फल हैं वह अपने प्रारंभ फल भोग की समाप्ति होने पर ही छूटते हैं

ankurnagpal108@gmail.com

तभी मोक्ष होता है। वे पुण्य पाप यदि एक शरीर में भोगने योग्य होते हैं तो उस शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यदि अनेक शरीरों में भोगने योग्य होते हैं तो मुक्त होने पर अन्य शरीरों के अवसान पर छुटते हैं प्रारब्ध पुण्य पाप कर्मों के फल भोग की बात कही गई है, देह की अवधि का नियम तो बतलाया नहीं गया है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि- ब्रह्मविद्या के प्रथम किये गये जो कर्म हैं जिनका कि फल आरंभ नहीं हुआ है वे, अनादि काल संचित पुण्य पाप कर्म, विद्या के प्रभाव से बिना फलोपभोग के ही नष्ट हो जाते हैं, तथा विद्या प्राप्ति के बाद होने वाले जो भावी पुण्य पाप कर्म हैं उनका फल ही उपासक से आश्लिष्ट नहीं होता अपितु विद्या प्राप्ति के बाद वह जो कुछ भी शुभ कर्म करता है उसका फल उसके मित्रों को तथा अशुभ कर्मों का फल उसके शत्रुओं को प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ अध्याय

द्वितीय पाद

१ वागाधिकरणः—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१।।

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते । प्रथमं तावदुत्क्रांतिश्चिन्त्यते । तत्रेदमाम्नायते "अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" इति । अत्र "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वाचो मनसि संपत्तिश्रुतिः किं वाग्वृत्तिमात्रविषया, उत वाग्विषया? इति विशये वृत्तिमात्र विषयेति युक्तम् कुतः? मनसोवाक् प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूप-संपत्त्यसंभवात् । वागादिवृत्तीनां मनोऽधीनत्वेन वृत्तिसंपत्तिश्रुतिः कथंचिदुपपद्यत इति ।

अब उपासक की गति के प्रकार का विचार प्रारंभ करते हैं पहिले उत्क्रांति पर विचारेंगे । श्रुति है कि-"हे सौम्य ! इस उपासक के जाते समय वाणी मन से मन प्राण से, प्राण तेज से और तेज पर देवता से संलग्न होता है ।" इसमें जो कहा गया कि "वाणी मन से संलग्न होती है" सो यह कथन वाणी की वृत्ति मात्र के लिए है या वाणी के लिए है? इस पर विचारने से तो ऐसा मत होता है कि वृत्तिमात्र के लिए ही है, क्योंकि मन में वाक् प्रकृति का अभाव है इसलिए वाणी का स्वरूप तो उसमें संलग्न हो नहीं सकता, वाणी आदि की वृत्तियाँ मन के अधीन रहती हैं, इसलिए, वृत्ति की संलग्नता की बात ही किसी प्रकार मानी जा सकती है ।

ankurnagpal108@gmail.com

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वाङ्मनसि इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि संपद्यते। कुतः? दर्शनात् दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तिः । वृत्तिमात्र संपत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेत् तत्राह-शब्दाच्चेति "वाङ् मनसि संपद्यते" इति वाक्स्वरूप संपत्तावेव हि शब्दः, न वृत्तिमात्रसंपत्तौ । नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते, येन वृत्तिमात्रमेव संपद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक् प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मनसिसंपत्तिर्नोपपद्यत इति, तत् "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वचनान्मनसा वाक् संयुज्यते न तु तत्र लीयत इति परिहर्त्तव्यम् ।

उक्त मत पर "वाङ् मनसि" सूत्र कहते हैं । अर्थात् वाणी का स्वरूप ही मन से संलग्न होता है । ऐसा देखा भी जाता है कि–वागिन्द्रिय के उपरत होने पर भी मन की प्रवृत्ति बनी रहती है । यदि कहें कि-वह तो वृत्तिमात्र की संलग्नता में भी रहती है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "शब्दाच्च" अर्थात् शास्त्र का भी यही कथन है "वाङ्मनसि" में स्पष्ट रूप से वाणी के स्वरूप का उल्लेख किया गया है, वृत्ति की चर्चा भी नहीं है । यह नहीं कह सकते कि वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर वृत्ति का भाव निहित है; ऐसा तो तभी माना जा सकता है जबकि कहीं अन्यत्र भी वृत्तिमात्र के संलग्न होने की चर्चा आई हो, सभी जगह वाणी की संलग्नता का ही उल्लेख है । जो यह कहा कि मन में वाक् प्रकृतित्व का अभाव है इसलिए मन में वाणी की संलग्नता संभव नहीं है, सो "वाङ् मनसि संपद्यते" में वाणी का मन में संयोग मात्र ही बतलाया गया है, लीन होने की बात नहीं कही गई है ।

अतएवसर्वाण्यनु ।४।२।२॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः, नतु लयः, अतएव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि संपत्तिश्रुतिरुपपद्यते "तस्मादुपशान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः "इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि वाणी का मन से संलग्न मात्र होना संपत्ति बतलाया गया, लय होना नहीं कहा गया, वैसे ही वाणी के पीछे सभी इन्द्रियों का मन में संलग्न होना श्रुति से ही ज्ञात होता है "इस प्रकार तेज के संलग्न हो जाने पर इन्द्रियों सहित सब के मन में संलग्न हो जाने पर" इत्यादि।

२ मनोऽधिकरणः–

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३॥

तत्-सर्वेन्द्रियसंयुक्त मनः प्राणे संपद्यते-प्राणेन संयुज्यत, न मनोवृत्तिमात्रम्, कुतः? उत्तरात्-"मनः प्राणे" इति वाक्यात् ।

फिर सभी इन्द्रियों से संसक्त वह मन प्राण में मिल जाता है। "मनः प्राणे" इस उत्तर वाक्य से ज्ञात होता है कि मन ही संसक्त होता है, मनोवृत्तिमात्र का ही संयोग नहीं होता।

अधिकाशंका तु–"अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति वचनान्मन-सोऽन्न प्रकृतित्त्वमवगम्यते, अन्नस्य च "ता अन्नमसृजंत" इत्यन्न–मयत्वं सिद्धम् "आपोमयः प्राणः" इति चाप्प्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो मनः प्राणे संपद्यत इत्यत्र प्राणशब्देनप्राणप्रकृतिभूता अपोनिर्दिश्य तासु मनः संपत्ति प्रतिपादने परम्परया स्वकारणे लय इति संम्पत्तिव चनमुपन्नं भवति–इति ।

इस पर विशेष शंका होती है कि-"हे सोम्य! मन अन्नमय है" इस वचन से मन का अन्न प्रकृतित्व ज्ञात होता है "ता अन्नमसृजंत' से उनकी अन्नमयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार" प्राण जलमय हैं इस वचन से प्राण का जल प्रकृतित्व ज्ञात होता है; जो मन की प्राण में संलग्नता बतलाई गई, उसमें प्राण शब्द से प्राण प्रकृति रूप जल का निर्देश करके उसमें मन की संलग्नता दिखालाई गई उससे तो परम्परा से अपने कारण में लय की बात ही संपत्ति द्वारा दिखलाई गई प्रतीत होता है।

परिहारस्तु–"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमुच्यते, न तत्प्रकृतित्वं, अाद्‌-

ankurnagpal108@gmail.com

कारिकत्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य। प्राणशब्देन अपां लक्षणा च स्यात्–इति।

समाधान–"हे सौम्य! मन अन्नमय और प्राण जलमय हैं" इत्यादि वाक्य में मन और प्राण का अन्न और जल से संसर्ग बतलाया गया है, अन्न और जल को उनकी प्रकृति नहीं कहा गया है, आहंकारिक होने से मन का अन्नमय होना तथा आकाश के विकार से होने के कारण प्राण का जलमय होना कहा गया है। प्राण शब्द से जल में लक्षणा है, प्राण का अभिधार्थ जल नहीं है।

३ अध्यक्षाधिकरणः–

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४॥

यथा–"वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे" इतिवचनानुरोधेन मनः प्राणयोरेव वाङ् मनसयोः संपत्ति, तथा "प्राणस्तेजसि" इति वचनात् तेजस्येव प्राणः संपद्यते।

जैसे कि-"वाङ्मनसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि मन और प्राण में वाणी और मन की संलग्नता है, वैसे ही "प्राणस्तेजसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि–प्राण की तेज से संलग्नता होती होगी।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–"सोऽध्यक्षे" इति। स प्राणः, अध्यक्षे–कारणाधिपे–जीवे संपद्यते। कुतः ? तदुपगमादिभ्यः प्राणस्य जीवोपगमः तावच्छ्रूयते "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायंति" इति। तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रांति श्रूयते–"तमुत्क्रांत प्राणोऽनूत्क्रामति" इति। प्रतिष्ठा च जीवेन सह श्रूयते–"कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामि" इति। एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजः संपत्तिरपि "प्राणस्तेजसि" इत्युच्यते, यथा यमुनायाः गंगया

ankurnagpal108@gmail.com

संयुज्य सागरगमनेऽपि "यमुना सागरं गच्छति" इति वचो न विरुध्यते तद्वत् ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "सोऽध्यक्षे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वह प्राण, अध्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव में संलग्न हो जाता है। प्राण का जीवोपगम बतलाया भी गया है– जब जीव की ऊर्ध्व श्वास चलने लगती है तो सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। तथा प्राण के साथ जीव की उत्क्रांति का भी वर्णन मिलता है "उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं।" जीव के साथ प्राण की प्रतिष्ठा का भी वर्णन मिलता है "किसके निकलने पर मैं निकला हुआ सा हो जाऊँगा, तथा किसके रहने पर मैं स्थित रहूँगा (उसने ऐसा विचार किया) "इसी भाव के अनुसार जीव से संयुक्त प्राण की तेज से संपत्ति बतलाई गई है जैसे कि यमुना गंगा से संलग्न होकर सागर में जाती है, पर यह "यमुना सागर में जा रही है" यह कथन भी–असंगत नहीं वैसे ही, प्राण जा रहे हैं, बात भी है।

४ भूताधिकरणः–

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।४।२।५।।

"प्राणस्तेजसि" इति जीवसंयुक्तस्यप्राणस्य तेजसि संपत्तिरुक्ता, सा संपत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहतेषु सर्वेषु भूतेषु ? इति संशये तेजोमात्र श्रवणात्तेजसि ।

"प्राण तेज में" इत्यादि में जीव संयुक्त प्राण की तेज में संपत्ति बतलाई गई है। अब प्रश्न होता है कि वह संपत्ति केवल तेज में ही होती है अथवा संयुक्त सभी भूतों में होती है ? तेज का ही नाम आता है, इससे तो केवल तेज में होने की बात ही समझ में आती है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–भूतेषु इति, भूतेषु संपद्यते, कुतः ? तच्छ्रुतेः "पृथिवीमयः, आपोमयः तेजोमयः" इति जीवस्य

ankurnagpal108@gmail.com

संचरतः सर्वभूतमयत्वश्रुतेः।

उक्त मत पर "भूतेषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं—भूतों में संपत्ति होती है, "पृथिवी मयः आपोमयः तेजोमयः" इत्यादि श्रुति में जीव की सर्वभूतमयता बतलाई गई है।

ननु तेजः प्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण संपत्तावपि "पृथिवीमयः" इत्यादिका श्रुतिरुपपद्येते—अत आह—

लगता है "पृथिवीमयः" इत्यादि श्रुति, तेज आदि एक-एक की क्रमशः संपत्ति का वर्णन कर रही है। इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि।४।२।६॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात्। दर्शयतो हि अक्षमत्वं श्रुतिस्मृती—"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति नामरूपव्याकरण-योग्यत्वाय त्रिवृतकरणमुपदिश्यते।" नानावीर्याः पृथग्भूतः ततस्ते संहतिं विना, नाशक्नुवन प्रजाः सृष्टुमसमागम्यकृत्स्नशः। समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयः, महदाद्याविशेषान्ता हि अंडमुत्पादयंति ते" इति। अतः "प्राणस्तेजसि" इति तेजः शब्देन भूतांतरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते। अतो भूतेष्वेव संपत्तिः।

इन भूतों में अकेले कार्य करने की क्षमता नहीं है। इनकी अक्षमता श्रुति स्मृति में बतलाई गई है—"इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूँ ऐसा विचार करके उसने तीन-तीन का एक-एक यूथ बनाया।" इसमें नामरूप के विस्तार की योग्यता के लिए त्रिवृत-करण का उल्लेख है। "विभिन्न शक्ति वाले वे बिना मिले, अलग-अलग रहकर समस्त सृष्टि की रचना करने में सक्षम नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से महत आदि से लेकर अंड तक का उत्पादन करते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि—"प्राणस्तेजसि" में तेज

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द से, अन्य भूतों से संलग्न तेज ही अभिधेय है। इसलिए भूतों में ही जीव की संपत्ति होती है यही मानना चाहिए।

५ आसृत्युपक्रमाधिकरण: —

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।४।२।७॥

इयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, उत अविदुष एव ? इति चिन्तायां, अविदुष एवेति प्राप्तम्, कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्व-वचनादुत्क्रान्त्यभावात्। विदुषो हि अत्रैवामृतत्वं श्रावयति–"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्यहृदिस्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति।

ऊपर जिस उत्क्रान्ति की चर्चा आई है क्या ये उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से होती है अथवा अनुपासक की ही होती हैं ? इस पर विचारने से तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि अनुपासक की ही होती है, उपासक तो इस लोक में ही मुक्त हो जाता है जैसा कि–"जब उपासना करते हुए इसकी हृदयस्थ समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य इस लोक में ही मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" इस श्रुति से निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–समानाचासृत्युपक्रमात् इति। विदुषोऽप्यसृत्युपक्रमादुत्क्रांतिः समाना। आसृत्युपक्रमात्-आगत्युपक्रमात्–नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः। विदुषो हि नाडीविशेषेणोत्क्रम्य गतिः श्रूयते–"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवंति" इति। एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणात् विदुषोऽप्युत्क्रांतिर-वर्जनीया। सा च नाडी प्रवेशात् प्रागविशेषा श्रवणात् समाना। तत्प्रवेशदशायां च विशेषः श्रूयते–"तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति। "शतं

ankurnagpal108@gmail.com

चैका च हृदयस्य' इत्यनया श्रुत्यैकार्थ्यान्मूर्ध्नो निष्क्रमणं विद्वद्-विषयम्, इतरदविद्वद् विषयम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–असृति उपक्रम अर्थात् नाडी प्रवेश के प्रथम तक उपासक अनुपासक दोनों की समान उत्क्रांति होती है। उपासक की नाडी विशेष से गति बतलाई गयी है—"हृदय से संसक्त एक सौ एक नाडियों में से एक मूर्धा की ओर जाती है उसके आश्रय से उपासक ऊपर की ओर जाकर उत्क्रमण करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" इस नाडी विशेष की गति के वर्णन से, उपासक की उत्क्रान्ति तो निश्चित हो ही जाती है। इस नाडी के प्रवेश के प्रथम तो उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से उत्क्रांति प्रक्रिया चलती है। इस नाडी में प्रवेश काल का कुछ विशेष वर्णन मिलता है "उस नाडी में प्रवेश करके यह आत्मा नेत्र मूर्धा या किसी अन्य स्थान विशेष से निष्क्रमण करता है" "शतं चैका च हृदयस्य" इत्यादि से जिसके निष्क्रमण की चर्चा की गई है वह उपासक की ही है, उससे भिन्न जो निष्क्रमण की चर्चा मिलती है वह उपासक के अतिरिक्त सभी की है।

यदुक्तं–विदुषोऽत्रैवामृतत्वं श्राव्यते-इति, तत्रोच्यते अमृतत्वं चानुपोष्य–इति। च शब्दोऽवधारणे। अनुपोष्य शरीरेन्द्रियादि संबंधमदग्ध्वैव, यदमृतत्वम् उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते, तदुच्यते "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादिकया श्रुत्येत्यर्थः। "अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इति च उपासनवेलायां यो ब्रह्मानुभवः, तद्विषय-मित्यभिप्रायः।

जो यह कहा कि–उपासक का इस लोक में ही मोक्ष का वर्णन मिलता है, उस पर सूत्रकार का कथन है "अमृतत्वं चानुपोष्य" अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि का संबंध नहीं छूटता इस स्थिति में भी तो अमृतत्व की बात है वह आगत और अतीत पापों के अश्लेष विनाश की ही बात है अर्थात् अश्लेष विनाश ही मुक्ति है "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादि श्रुति से यही दिखलाया गया है "यहीं ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" का तात्पर्य

ankurnagpal108@gmail.com

है कि उपासना के समय जो ब्रह्मानुभूति होती है, वही ऐहलौकिक ब्रह्म प्राप्ति है।

तदापीतेः संसार व्यपदेशात् ।४।२।८॥

अवश्यं च तत्–अमृतत्वमदग्धदेहसंबंधस्यैवेति विज्ञेयम्। कुतः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्–अपीतिः–अप्ययः–ब्रह्म प्राप्तिः। साचार्चिरादिनामार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते। आतदवस्था-प्राप्तेः संसारः, देहसंबंधलक्षणो हि व्यपदिश्यते--"तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म-लोकमभिसंभवानि" इति च।

ऊपर जिस अमृतत्व प्राप्ति की चर्चा की गई है, निश्चित ही वह देह संबंध के बिना नष्ट हुए ही मिलती है अर्चिरादिमार्ग से जाने पर जिस देश विशेष की प्राप्ति होती है वही ब्रह्म प्राप्ति है, उस मार्ग में जाने के प्रथम तक देह संबंध रूप संसार का संबंध बना रहता है "उसकी ब्रह्म प्राप्ति में तभी तक का विलंब है जब तक प्रारब्ध भोग कर इस शरीर से नहीं छुट जाता" जैसे कि घोड़ा रोयों को झाड़कर चैतन्य हो जाता है वैसे ही उपासक पापों को झाड़ कर राहु से मुक्त चन्द्रमा के समान स्वच्छ होकर ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।" इत्यादि से उक्त बात निश्चित होती है।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९॥

इतश्च विदुषोऽपि बंधो नात्र दग्धः यत्तत्सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुत इदमवगम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः उपलभ्यते हि देवयानेन पथा गच्छतो विदुषः 'तं प्रतिब्रूयात्" "सत्यंब्रूयात्" इति चन्द्रमसा संवाद वचनेन शरीरसद्भावः। अतः सूक्ष्मशरीर मनुवर्त्तते। अतश्च बंधो न दग्धः।

ankurnagpal108@gmail.com

उपासक के शरीर बंधन मुक्ति की बात तो इसलिए भी नहीं मानी जा सकती कि–स्थूल के छुटने पर सूक्ष्म शरीर तो साथ जाता ही है। देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक से चंद्रमा से संवाद होता है ऐसा "तंप्रति ब्रूयात्" "सत्यं ब्रूयात्' इत्यादि वर्णनों से निश्चित होता है संवाद बिनाशरीर के होना संभव नहीं है, इसलिए शरीर का होना तो निश्चित ही है, वह सूक्ष्म शरीर ही है, इसलिए शरीर संबंध के छुटने की बात सही नहीं है।

नोपमर्देनात:।४।२।१०॥

अत: "यदासर्वेप्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिता:, अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति वचनं न बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति।

इसलिए "यदा सर्वे" इत्यादि में जिस अमृतत्व की चर्चा है वह शरीर संबंध रहित अमृत्व की नहीं है, यही मानना चाहिए।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा।४।२।११।

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्वचिद् विद्यमानत्वोपपत्तेर्विदुष: प्रक्रान्तमरणस्य मरणात् प्रागूष्मा स्थूलेशरीरे क्वचिदु उपलभ्यते। न च स्थूलस्यैव शरीरस्यायमूष्मा अन्यत्रानुपलब्धे:। ततश्चोष्मण: क्वचिदुपलब्धिर्विदुष: सूक्ष्मशरीरस्योत्क्रांति निबंधनेति गम्यते। तस्माद् विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात् समानोत्क्रांतिरिति सुष्ठूक्तम्।

इस सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को जानना हो तो, कभी भी मरणासन्न व्यक्ति के मरण के पूर्व उसके स्थूल शरीर को छूकर ऊष्मा से जाना जा सकता है, वह ऊष्मा स्थूल शरीर की नहीं होती मरणोपरान्त स्थूल शरीर में वह नहीं होती। इस प्रकार की ऊष्मोपलब्धि से यह निर्णय होता है कि उपासक की जो उत्क्रान्ति होती है वह सूक्ष्म शरीर के आश्रित होती है। इसलिए जो यह कहा कि–नाडी विशेष में प्रवेश करने के पूर्व उत्क्रांति सभी को समान होती, यह ठीक ही है।

ankurnagpal108@gmail.com

पुनरपि विदुष उत्क्रांतिर्न संभवतीत्याशंक्य परिह्रियते—

उपासक की उत्क्रांति नहीं हो सकती, ऐसी पुनः आशंका कर के उसका परिहार करते हैं—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् स्पष्टो हि एकेषाम् ।४।२।१२।।

यदुक्तं—विदुषोऽप्युत्क्रांति समानेति, तन्नोपपद्यते, विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधात् । तथाहि—"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रमति" इत्युपक्रम्य "तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति "इत्यविदुष उत्क्रांति प्रकारमभिधाय "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इति देहान्तरपरिग्रहं चाभिधाय "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययं तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे इति तु कामयमानः" इत्यविद्वद्विषयं परिसमाप्य "अथाकामयमानो योऽकामोनिष्काम आत्मकामः न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" इति विदुष उत्क्रांतिः प्रतिषिध्यते । तथा पूर्वत्र आर्त्तभाग प्रश्नेऽपि विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधो दृश्यते—"अपपुनर्मृत्युं जयति" इति विद्वांसं प्रस्तुत्य "याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात् प्राणाः क्रामंत्याहो न" इति पृष्टः "नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयंते स उच्छ्वयत्याध्मातो मृतः शेते" इति अतोविद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोति इति चेत् ।

जो यह कहा कि उपासक की उत्क्रांति सभी के समान होती है, वह कथन ठीक नहीं है, उपासक की उत्क्रांति का तो प्रतिषेध किया गया है । जैसा कि प्रसंग आता है कि— "वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को अच्छी तरह ग्रहण करके हृदय में ही अनुत्क्रांत (अभिव्यक्त ज्ञानवान) होता है" यहाँ से प्रारंभ करके " उसके उत्क्रमण करने पर उसको साथ ही प्राण उत्क्रमण करते हैं ।" इत्यादि से अनुपासक की उत्क्रांति का

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकार बतलाकर–"दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है" इत्यादि से उसके देहान्तर परिग्रह को बतलाकर "इस लोक में यह जो कुछ करता है उस कर्म का फल प्राप्त कर उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः इस लोक में आ जाता है कामना करने वाले पुरुष की ऐसी ही गति होती है" यहाँ तक अनुपासक के विषय में कहकर "जो आकाम निष्काम और आप्तकाम होता है उसको प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि से उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार आर्त्तभाग के प्रश्न में भी उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध मिलता है–" याज्ञवल्क्य ने कहा-पुनर्मृत्यु का पराजय होता है" इत्यादि से उपासक का प्रसंग प्रस्तुत करने पर आर्त्तभाग ने पूछा-याज्ञवल्क्य ! जिस समय यह मरता है उस समय उसको प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा "नहीं-नहीं वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं वह वायु को खींच कर यहीं मृत होकर सोता है।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उपासक इस लोक में ही अमृतत्व प्राप्त करता है।

तन्न, शारीरात्--प्रत्यगात्मनः, प्राणानामुत्क्रांतिर्ह्यत्र प्रतिषिध्यते, न शरीरात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इत्यत्र तच्छब्देन "अथाकामयमानः" इति प्रकृतः शारीर एव परामृश्यते नाश्रुतं शरीरम्। "तस्य" इति षष्ठ्या प्राणानां संबंधित्वेन शारीरो निर्दिष्टःन तूत्क्रान्त्यपादनत्वेन। उत्क्रान्त्यपादानं तु शरीरमेवेति चेत्, न--अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्संबंधितया श्रुतस्यात्मन एव सन्निहितत्वेनापादानतयापि ग्राह्यत्वात्।

जैसी धारणा की गई बात वैसी नहीं है, उक्त प्रसंग में जीवात्मा के प्राणों के उत्क्रमण का निषेध किया गया है शरीर के अनुत्क्रमण की चर्चा नहीं है "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इस वाक्य में तत् शब्द से "अथाकामायमानः" में कहे गये जीवात्मा का ही उल्लेख है शरीर का नहीं। "तस्य" इस षष्ठी पद से प्राणों का संबंध दिखलाया है जिससे जीवात्मा का ही निर्देश निश्चित होता है, यदि जीव के शरीर से अलग न होने की बात होती तो अपादान पंचमी का प्रयोग तो शरीर में होता,

ankurnagpal108@gmail.com

शरीर शब्द तो इस वाक्य में लुप्त है (अर्थात् "नतस्य शरीरात् प्राणा उत्क्रामंति" के स्थान पर केवल न तस्य प्राणानुत्क्रामंति" कहा गया है) सो आपका यह कथन भी व्याकरण नियम के विरुद्ध है, यदि लुप्त शरीर शब्द के संबंध की बात होती तो शरीर शब्द से निकटस्थ तत् शब्द में भी अपादान का ही प्रयोग दिखलाई देता (अर्थात् "न तस्मात् शरीरात् प्राणात् उत्क्रामंति" ऐसा प्रयोग किया गया होता,) सो तो है नहीं।

किं च प्राणानां जीवसंबंधितयैव प्रज्ञातानां तत्संबंधकथने प्रयोजनाभावात् संबंधमात्र वाचिन्या षष्ठ्या अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते। यथा "नटस्य शृणोति" इति। न चात्र विवदितव्यं स्पष्टो हि एकेषां माध्यन्दिनानामाम्नाये शारीरो जीव एवापादानमिति--"योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्मात् प्राणा उत्क्रामंति" इति।

(तर्क प्राणों का संबंध तो जीव से ही है इसलिए कोई प्रयोजन तो है नहीं कि जीव का पृथक् निर्देश किया जाता, संबंध मात्र को बतलाने के लिए ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है जो कि अपादान स्थानीय ही है, जैसे कि--"नटस्य शृणोति" इत्यादि में किया जाता है [उत्तर] यहाँ विशेष विवाद की आवश्यकता नहीं है, यहाँ तो माध्यन्दिन आम्नाय की एक शाखा में स्पष्ट रूप से जीव का ही अपादान प्रयोग किया गया है--"जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है, उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते।"

शारीरात् प्राणानामुत्क्रांतिप्रसंगाभावात्तन्निषेधो नोपपद्यत इति चेत्, न "तस्य तावदेव चिरं" इति विदुषः शरीरवियोग काले ब्रह्मसंपत्ति वचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शरीराद् विदुषो वियोगः प्रसज्यते, ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसंपत्तिर्नोपपद्यत इति। "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्राग्जीवाद् विदुषोऽपि प्राणा न विश्लिष्यन्तीत्युच्यते। आर्तभाग प्रश्नोऽपि यदा

ankurnagpal108@gmail.com

विद्वद्विषयः तदा अयमेव परिहारः, सत्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्न प्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्या प्रसंगादर्शनात्, तत्रहि ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थ स्वभावः, अपामग्न्यन्नत्वं, म्रियमाणस्य जीवस्य प्राण परित्यागः, मृतस्यनामवाच्यकीर्त्यनुवृत्तिः, तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः। तत्र च "अपपुनर्मृत्युंजयति" इति अपामग्न्यन्नत्व ज्ञानादग्निजय एव मृत्युजय उच्यते। अतो नात्र विदुषः प्रसंगः अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं-स्थूलदेहवत्प्राणा न मुंचंति अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्ति, इति प्रतिपादयतीति निरवद्यम्।

(तर्क) यदि कहें कि–उक्त प्रसंग में जीव से प्राणों की उत्क्रांति का अभाव मान लेंगे तो, उसके निषेध का प्रश्न ही क्या है? (उत्तर) "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि शरीर वियोग काल में उपासक की ब्रह्म संपत्ति बतलाने वाले वचन से ज्ञात होता है कि उपासक का उसी समय प्राणों से भी वियोग होता है, इसीलिए देवयान में ब्रह्मसंपत्ति नहीं होती। "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति"–से भी यही बतलाते हैं कि देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक जीव के प्राण भी, ब्रह्म प्राप्ति के पूर्व तक उससे नहीं छूटते। आर्त भाग के प्रश्न में भी यही बात कही गई है वहाँ उपासक जीव का प्रसंग ही नहीं है, वह तो अनुपासक जीव का विषय है, वहाँ प्रश्नोत्तरों में ब्रह्मविद्या को प्राप्त न करने वालों के विषय में उनकी इन्द्रियों और उनके स्वभाव की जलअग्नि अन्नरूपता, म्रियमाण जीव की प्राण परित्याग का प्रकार, मृत जीव का स्वाभाविक अनुवृत्ति का प्रकार, उसके अनुसार पुण्यपापानुरूपगति प्राप्ति इत्यादि का विवेचन किया गया है वहाँ जो "अपपुनर्मृत्युंजयति" कहा गया है वह तो ज्ञान से अग्निजय को ही मृत्युजय कहा गया है। इसलिए उसे उपासक जीव का प्रसंग समझना ही नहीं चाहिए। अनुपासक जीव के प्राणों की उत्क्रांति का जहाँ प्रसंग है, उसमें भी यही दिखलाया गया है कि–स्थूल शरीर की तरह प्राण, उसको एकाएक नहीं छोड़ देते अपितु सूक्ष्मरूप से संसक्त होकर इस जीव के साथ जाते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मर्यते च ।४।२।१३॥

स्मर्यंते च विदुषोऽपि मूर्धनाड्योत्क्रांतिः "ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमंडलं, ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्" इति ।

उपासक की मूर्धा की नाडी से उत्क्रांति की बात स्मृति में भी कही गई है "ऊपर की एक नाडी में स्थित वह जीव, सूर्यमंडल का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्म लोक को भी अतिक्रमण कर परं गति गोलोक की प्राप्ति करता है ।"

६ परसंपत्त्यधिकरणः

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१४॥

सकरग्रामः, स प्राणः, करणाध्यक्षः प्रत्यगात्मा उत्क्रांति वेलायां तेजः प्रभृति भूतसूक्ष्मेषु संपद्यत इत्युक्तम्, सैषा संपत्ति-र्विदुषो न विद्यत इति आशंक्य परिहृतम्, तानि पुनर्जीवपरिष्वक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविद्यं च स्वकार्याय गच्छंति, उत परमात्मनि संपद्यन्ते? इति विशये मध्ये परमात्म संपत्तौ सुखदुःखो-पभोगरूपकार्यदर्शनात् तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविद्यं च गच्छंति ।

इन्द्रिय प्राणों सहित इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा उत्क्रांति के समय तेज आदि सूक्ष्म भूतों से संसक्त रहता है यह बतलाया गया, ऐसी आसक्ति उपासक की नहीं होती ऐसी शंका करते हुए उसका समाधान भी किया गया । अब प्रश्न होता है कि—जीव की मुक्ति हो जाने पर वे सूक्ष्मभूत जीव के कर्मानुसार उसके साथ ही रहते हैं अथवा, परमात्मा में लीन हो जाते हैं? इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे परमात्मा में मिल नहीं सकते क्योंकि परमात्मा में सुखदुःख के उपभोग नहीं हैं, इसलिए वे जीव में संसक्त रहते हैं ।

ankurnagpal108@gmail.com

इति प्राप्त उच्यते-तानि परे इति, तानि परस्मिन्नात्मनि संपद्यंते, कुतः? तथाह्याह श्रुतिः"तेजः परस्यां देवतायाम्" इति। यथाह श्रुतिः तदनुगुणकार्यं कल्प्यमित्यर्थः। सुषुप्तिप्रलयोर्यथा परमात्मसंपत्त्या सुखदुःखोपभोगायासविश्रमः तद्वद् इहापि।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि वे परमात्मा में संसक्त हो जाते हैं, "तेज परमात्मा में चला जाता है" इत्यादि श्रुति में इनकी परमात्मा में मिलने की बात स्पष्टतः कही गई है, इन भूतों के जो कर्मानुसार कार्य होते हैं, वे सृष्टि में ही होते हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है। सुषुप्ति और मूर्छा में जैसे जीवात्मा, आत्मस्थ परमात्मा से संसक्त हो जाता है उस समय उसके सुखदुःखोपभोग के सारे क्रिया कलाप तटस्थ रहते हैं, वैसे ही मुक्तावस्था में भी जीवात्मा के परमात्मा में संसक्त रहते हैं [सृष्टिकाल में वे पुनः जीवात्मा के साथ अपने क्रिया कलाप के विस्तार के लिए सचेष्ट होते हैं]

७ अविभागाधिकरणः—

अविभागोवचनात्।४।१।१५

सेयं परमात्मनि संपत्तिः किं प्राकृतलयवत् कारणापत्तिरूपा, उत "वाङ् मनसि" इत्यादिवत् अविभागरूपा? इति चिन्तायाम्-परमात्मनः सर्वेषां योनिभूतत्वात् कारणापत्तिरूपा।

यह जो भूतों की परमात्मा में संलग्नता की बात कही गई वह किस प्रकार की है, क्या वह प्राकृतलय की तरह कारणापत्तिरूपा अर्थात् कारण में कार्य के मिलने की बात है अथवा "वाङ्मनसि" की तरह तद्रूप होकर चिपके रहने की बात है? इस पर विचारने से-परमात्मा सभी के कारण हैं इसलिए, कारण में कार्य के मिलने की बात, समझ में आती है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यतेः-"अविभागः" इति। अपृथग्भावः पृथग्व्यवहारानर्ह संसर्ग इत्यर्थः। कुतः? वचनात् "तेजः परस्यां देवतायाम्" इत्यत्रापि "वाङ् मनसि संपद्यते" इत्यतः संपद्यत इति

ankurnagpal108@gmail.com

वचनस्यानुषंगात्, तस्य च संसर्गविशेष वाचित्वात्, अनुषक्त स्याभिधानवैरूप्यप्रमाणाभावात्, उत्क्रांतिवेलायां कारणापत्ति प्रयोजनाभावात् पुनस्तत्राव्यक्तादिसृष्टयवचनाच्च ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि–इन सूक्ष्म भूतों का परमात्मा से जो सम्मेलन होता है वह इतना सूक्ष्म होता है कि–उसे पृथक् कहना कठिन है। "तेजः परस्यां देवतायाम्" इस वचन से ही उक्त बात समझ में आ जाती है। "वाङ्मनसि संपद्यते" में जो अनुषक्त होने की बात कही गई है, वह विशेष प्रकार के संसर्ग का ही बोध कराती है। परमात्मा में अनुषक्त, इन सूक्ष्म भूतों के नामभेद का तो, उल्लेख मिलता नहीं, और न उत्क्रांति के समय इनका कारण में लीन होने का कोई प्रयोजन ही समझ में आता है, तथा इन अव्यक्त आदि का उस अवस्था में सचेष्ट होकर संचालित होने का प्रमाण ही मिलता है, जिससे इन्हे भिन्न या अभिन्न कुछ कहा जा सके, इनकी तो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीय अभिन्नता ही रहती है।

२ तदोकोऽधिकरणः—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत् प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१६॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वदविदुषोः समानाकार उत्क्रांति प्रकार उक्तः, इदानीं विदुषो विशेष उच्यते, तत्रेदमाम्नायते–"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति। अनया नाडीनां शताधिकया मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनं अन्याभिरेव चाविदुषो गमनमित्ययं नियम उपपद्यते, न ? इति संशयः किं युक्तम् ? नियमो नोपपद्यत इति, कुतः? नाडीनां भूयस्त्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च दुर्विवेचतया पुरुषेणोपादातुमशक्यत्वात्। "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या

ankurnagpal108@gmail.com

उत्क्रमणे भवंति" इति यादृच्छिकीभुत्क्रांतिमनुवदतीति युक्तमिति ।

नाडी विशेष में प्रवेश करने के प्रथम तक उपासक और अनुपासक की समान उत्क्रांति दिखलाई गई, अब नाडी में प्रवेश करने के बाद उपासक की विशेष प्रकार की उत्क्रांति का वर्णन करते हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया कि–"हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक कपाल की ओर निकली है, उसके सहारे ऊपर के लोकों में जाकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है दूसरी एक सौ नाडियाँ मरण काल में अनेक प्रकार की योनियों में जाने की हेतु होती हैं" इत्यादि । सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य सुषुम्ना नाडी से उपासक की उत्क्रांति तथा अन्य सौ नाडियों से अनुपासक की उत्क्रांति का नियम बतलाया गया है या नहीं? इस संशय पर मत होता है कि–नाडियाँ अनेक और अति सूक्ष्म हैं, उनकी जानकारी बहुत कठिन है जीव के द्वारा उनको ग्रहण करना अति कठिन है "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इत्यादि में सामान्य उत्क्रांति का ही वर्णन है, यही मानना युक्ति युक्त है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-शताधिकया इति । विद्वान् शताधिकया मूर्धन्ययैव नाड्योत्क्रामति । न चास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वं, विद्वान् हि परं पुरुषाराधनभूतात्यर्थं प्रियविद्या सामर्थ्यात् विद्याशेषभूततयाऽत्मनोऽत्यर्थं प्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति, ततश्च तदोकः तस्य जीवस्य स्थानं हृदयं अग्रज्वलनं भवति, अग्रेज्वलनं प्रकाशनं यस्य, अग्रज्वलनम् । परमपुरुषप्रसादात् प्रकाशितद्वारो विद्वान् तां नाडीं विजानातीति, तया विदुषो गतिरुपपद्यते ।

उत मत पर सिद्धान्तरूप से "शताधिकया" आदि सूत्र प्रस्तुत करते हैं–कहते हैं कि–उपासक, सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य नाडी से ही उत्क्रमण करता है। उपासक के लिए नाडियों की जानकारी कठिन नहीं होती। उपासक, परंपुरुष की आराधना रूप प्रिय ब्रह्मविद्या के

ankurnagpal108@gmail.com

सामर्थ्य से, विद्या के फलस्वरूप होने वाली प्रिय इष्ट प्राप्ति को स्मरण कर अत्यंत प्रसन्न होता है, उसे परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, इसलिए उसके हृदय का अग्रभाग (जो कि सुषुम्ना नाडी की ओर जाता है) प्रज्वलित अर्थात् प्रकाशित हो जाता है, प्रभु की कृपा से वह उपासक प्रकाशित मार्ग से नाडी के मार्ग की जानकारी कर लेता है, उसी मार्ग से उपासक की गति होती है।

६. रश्म्यनुसाराधिकरणः–

रश्म्यनुसारी ।४।२।१७॥

विदुषो हृदयाच्छताधिकया मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्यादित्य रश्मीननुसृत्यादित्यमंडलगतिः श्रूयते "अथ यत्रैदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इति। तत्र रश्म्यनुसारेणैवेत्ययं गति नियमः संभवति न वा? इति चिन्तायां, निशिमृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारासंभवादनियमः। वचनन्तु पक्षपात विषयम्।

हृदय से निसृत एक सौ एक नाडियों में सर्वश्रेष्ठ मूर्धन्य नाडी से निकलकर सूर्य की किरणों का अनुसरण कर सूर्य मंडल में जाने की बात उपासक के विषय में सुनी जाती है–"इस शरीर से उत्क्रमण कर, इन सूर्य की रश्मियों के ही सहारे ऊपर आक्रमित होता है", इस पर विचार होता है कि–क्या सूर्य रश्मियों के सहारे ही इस गति के होने का नियम है, अथवा कोई नियम नहीं है? मनन करने से तो ऐसा कोई नियम समझ में नहीं आता, क्योंकि जब उपासक की मृत्यु रात्रि में होती है तब क्या उसकी ऊर्ध्वगति नहीं होती? यदि होती है तो कैसे होती है? उक्त वचन पक्ष विशेष के लिए प्रतीत होता है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यते-"रश्म्यनुसारी" इति, रश्म्यनुसार्येव विद्वानूर्ध्वं गच्छति, कुतः? "अथैतैरेव रश्मिभिः" इत्यवधारणात् पाक्षिकत्वे ह्येवाकारोऽनर्थकः स्यात्। यदुक्तं निशिमृतस्य रश्म्यसंभवात् रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति, तत्र, निश्यपि

ankurnagpal108@gmail.com

सूर्यरश्म्यनुसारः संभवति, लक्ष्यते हि निश्यपि निदाघ समये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः, हेमन्तादौ तु हिमाभिवाद् दुर्दिन इवोष्मानुपलम्भः, श्रूयते च नाडी रश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः- "तद्यथामहापथ आतत उभौ लोकौ गच्छतीमं चामुं च आमुष्मादादित्यात्प्रतायंते त आसु नाडी सुसृप्ताः आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायंते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" इति। तस्मान्निश्यपि रश्मि संभवान्निशि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–रश्मियों के सहारे ही उपासक की ऊर्ध्व गति होती है। "उन्हीं रश्मियों के सहारे" इस अवधारक पद से यह बात निश्चित हो जाती है। यदि इस वाक्य को पक्ष विशेष के लिए मानेंगे तो वाक्यगत "एव" पद की व्यर्थता सिद्ध होगी। जो यह कहा कि-रात्रि में मृत उपासक का रात्रि में रश्मि न होने से, रश्म्यनुसार उर्ध्व गमन नहीं हो सकता; सो बात नहीं है, रात्रि में भी रश्म्यनुसार गमन संभव है; गर्मी के दिनों में रात्रि में ऊष्मा होती है जिससे सूर्यरश्मियों का सद्भाव निश्चित होता है, हेमन्त आदि में, हिम से आच्छादित होने के कारण, मेघाच्छादित दिन की तरह ऊष्मा की अनुपलब्धि रहती है। नाडी और रश्मियों का, एक दूसरे से संबंध होने का उल्लेख भी मिलता है। "जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्त्ती) और उस (दूरवर्त्ती) दो गावों को जाता है, वैसे ही सूर्य की किरणें, इस पुरुष और आदित्य मंडल, दोनों में प्रविष्ट हैं। जो निरन्तर उस आदित्य से निकलती हैं वो इन नाडियों में व्याप्त हैं, तथा जो इन नाडियों से निकलती हैं वो आदित्य में व्याप्त हैं।" इत्यादि। इसलिए, रात्रि में भी रश्मियों के सद्भाव के कारण, रात्रि में भी मृत उपासक की, रश्मि अनुसार ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ऐसा मानना चाहिए।

१० निशाधिकरणः—

निशिनेति चेन्न संबंधस्ययावद्देहभाविस्वात् दर्शयति च ।४।२।१८॥

इदमिदनानीं चिन्त्यते–विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति,

ankurnagpal108@gmail.com

नेति? यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसंभवाद्रश्म्यनुसारेण गतिर्निशाया- मपि संभवति, तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गर्हितत्वात् परमपुरुषार्थं लक्षण ब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न संभवति। शास्त्रेषु दिवामरणम् प्रशस्तम्, विपरीतं निशामरणम्-"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च, मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्" इति। दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्व विपरीतत्वे चोत्तमाधमगति हेतुत्वेन स्याताम्। अतो निशिमरणमधोगति हेतुत्वान्न ब्रह्म प्राप्तिरिति चेत्।

अब यह विचारते हैं कि- रात्रि में मृत उपासक की ब्रह्म प्राप्ति होती है या नहीं ? यद्यपि रात्रि में भी सूर्य रश्मियों के रहने से, रश्मियों के सहारे रात्रि में भी ऊर्ध्व गमन होता है, फिर भी रात्रि मरण की शास्त्र में गर्हणा की गई है, इसलिए-रात्रि में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिवामरण को प्रशस्त तथा निशामरण को गर्हित कहा गया है-"दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण, मुमुक्षुओं के लिए प्रशस्त हैं, इससे विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन, गर्हित है" इत्यादि। दिवामरण और निशामरण के प्रशस्त और गर्हित होने की बात उत्तम और अधोगति के अधार पर ही कही गई है इसलिए रात्रि मरण में अधोगति होती है, इस आधार पर ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, ऐसा समझ में आता है।

तन्न, विदुषः कर्मसंबंधस्य यावद्देहभावित्वात्। एतदुक्तं भवति-अनारब्धकार्याणामधोगति हेतुभूतानां कर्मणां विद्यासंबंधेनैव विनाशादुत्तरेषां चाश्लेषाद् प्रारब्ध कार्यस्य च चरमदेहावधित्वाद् बन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धैव। दर्शयति च श्रुतिः "तस्यतावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इति "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम्।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त बात ठीक नहीं है, उपासक का कर्म संबंध तो शरीर के रहने तक ही रहता है। कथन यह है कि-अधोगति को देने वाले अनेकानेक जन्मों के संचित कर्मों का तथा भविष्य में फलित होने वाले कर्मों का तो विद्या के संबंध से ही विनाश और अश्लेष हो जाता है, प्रारब्ध कर्मों के फल का संबंध भी देह की समाप्ति तक ही रहता है, बंधन में डालने वाले कोई कर्म शेष तो रहते नहीं, इसलिए उपासक की रात्रि में मृत्यु होने पर भी, ब्रह्मप्राप्ति तो निश्चित ही है। श्रुति का कथन भी है कि–"उसकी मुक्ति में तभी तक का विलंब है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता।" "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादि वचन तो अनुपासकों के लिए है।

११. दक्षिणायनाधिकरण:—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।१९।।

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेत दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः यनेसिद्धा।

अधिका शंका तु "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छति" इति दक्षिणायेन मृतस्य चंद्रप्राप्ति श्रवणात् चन्द्रंप्राप्तानां च "तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति पुनरावृत्ति श्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानां उत्तरायणप्रतीक्षा दर्शनाद् दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवति इति।

रात्रि में उपासक की ब्रह्म प्राप्ति में जो कारण बतलाया गया, उसी कारण के आधार पर दक्षिणायन में भी मृत उपासक की ब्रह्मप्राप्ति स्वभाव सिद्ध है।

इस पर विशेष शंका यह होती है कि–"जो लोग दक्षिणायन में मरते हैं वे पितरों की महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का सायुज्य प्राप्त करते हैं" इत्यादि में दक्षिणायन में मरने वाले को चन्द्र प्राप्ति बतलाई

ankurnagpal108@gmail.com

गई है तथा चन्द्र प्राप्त जीव की, "वे जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से पुनः लौट आते हैं" इत्यादि में पुनारावृत्ति बतलाई गई है तथा ब्रह्मविद्या-निष्ठ भीष्म आदि के उत्तरायण की प्रतीक्षा के उल्लेख से ऐसा लगता है कि दक्षिणायन में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं है।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः, विदुषस्तु चंद्र प्राप्तस्यापि "तस्माद् ब्रह्मणो महिमान-माप्नोति" इति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायन मृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्मप्रपित्सतो विश्रमहेतुमात्रमिति गम्यते, वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बंधहेत्वभावात् विदुषश्चन्द्रप्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिर-निवार्या। भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छंदमरणानां धर्म प्रवर्त्तनायोत्तरायण प्राशस्त्यप्रदर्शनार्थस्तथाविधाचारः।

उक्त संशय का परिहार यह है कि—पितृयान से जाकर चन्द्रमसी गति प्राप्ति करने वाले अनुपासक की ही पुनरावृत्ति होती है, उपासक की कभी चान्द्रमसी गति होती भी है तो, "वहाँ से वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करते हैं" इत्यादि वचन से ज्ञात होता है कि, दक्षिणायन में मृत उपासक की वह चंद्र प्राप्ति ब्रह्म मार्ग में जाते हुए विश्राम के लिए होती है। यदि यह वचन न भी हो तो भी उपासना के कारण उसमें बंधन के हेतु का तो अभाव रहता ही है, जिससे चन्द्र प्राप्त उपासक की ब्रह्म प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है। भीष्मादि के उत्तरायण प्रतीक्षा की जो बात है, वह तो उत्तरायण की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए और धर्म प्रवर्त्तन के लिए, योग प्रभाव से स्वच्छंद मरण की बात है।

ननु च विदुषो मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्ति हेतुत्वेन कालविशेष विधिर्दृश्यते "यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभः। अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः। धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्, तत्रचान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते। शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते, एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्ततेपुनः" इति। तत्राह—

ankurnagpal108@gmail.com

मुमुक्षु उपासकों के लिए तो पुनरावृत्ति के हेतु कालविशेष का वर्णन मिलता है? जैसे–"हे भरतर्षभ! जिस समय, योगी की आवृत्ति और अनावृत्ति होती है, उसका नियम बतलाता हूँ, सुनो–अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः महीने के दिनों में जाने वाले ब्रह्मविद ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन के छः महीनों में जाने वाले योगी चान्द्रमसी ज्योति को प्राप्त कर पुनः लौटते हैं इस प्रकार की शुक्ल और कृष्ण की गतियाँ, जगत में शाश्वत काल से चली आ रही हैं, जिनमें से एक में जाने पर आवृत्ति होती है। "इत्यादि, इसका समाधान करते हैं—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्त्ते चैते ।४।२।२०॥

नात्र मुमूर्षून प्रति मरण काल विशेषोपादानं स्मर्यते अपितु योगिनः, योग निष्ठान् प्रति स्मार्त्त-स्मृति विषयभूते स्मर्त्तव्ये देवयान पितृयानाख्ये गती स्मर्येते, योगांगतयाऽनुदिनं स्मर्त्तुम्। तथाहि उपसंहारः–"नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन" इति "अग्निर्ज्योती" "धूमो रात्रिः" इति च देवयान पितृयाणे प्रतिभिज्ञायेते उपक्रमे च "यत्र काले तु" इति काल शब्दः कालाभिमानिदेवतातिवाहिकपरः, अग्न्यादेः कालत्वासंभवात्। अतः "तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति विदितदेव-यानानुस्मृतिरत्र विद्यानिष्ठान्प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः।

उक्त प्रसंग में मुमुक्षु उपासकों, के मरण काल विशेष का उल्लेख नहीं है, अपितु कर्म योग में संलग्न व्यक्तियों की गति का उल्लेख है। स्मृतियों में जो, देवयान पितृयान नामक गतियों का उल्लेख है वह, कर्म-योग के अंग विशेष रूप से सदैव ज्ञातव्य है। जैसा कि उक्त प्रसंग के उपसंहार में स्पष्ट कहा गया कि–"हे अर्जुन! उक्त दोनों गतियों को

ankurnagpal108@gmail.com

जानकर कर्मयोगी कभी मोह में नहीं पड़ते, इसलिए तुम सदैव कर्मयोग में संलग्न रहो।" इत्यादि "अग्नि ज्योति" और "धूमो रात्रिः" इत्यादि से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख है। उपक्रम में जो "यत्र काल" कहा गया है, वहाँ काल शब्द कालाभिमानी देवता अतिवाहक का वाचक है, अग्नि इत्यादि में कालत्व नहीं हो सकता है। "तेर्चिषभमिसंभवंति" इत्यादि में, विद्या निष्ठों के लिए, देवयान मार्ग प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। मुमुक्षुओं के मरण काल विशेष का प्रसंग नहीं है।

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ-अध्याय

तृतीय पाद

१ अर्चिराद्यधिकरण:

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१॥

विदुष उत्क्रान्तस्यनाडी विशेषेण हार्दानुग्रहात् गत्युपक्रम उक्तः । तस्य गच्छतो मार्ग इदानीं निर्णीयते । तत्र श्रुतिषु मार्ग प्रकाराः बहुधा आम्नायन्ते, छांदोग्ये तावत्–"यथा पुष्कर पलाश आपो नश्लिष्यंते एवमेवंविदि पापकर्म नश्लिष्यते" इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदिश्याम्नायते "अथ यदु चैवस्मिञ्छव्यं कुर्वति यदु च न अर्चिषमेवाभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः, आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण-पक्षाद्यान् षड्डुदंगेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-मादित्याच्चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः, एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति । तथाऽत्रैवाष्टमे–"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमा-क्रमते" इति । कौषीतकिनश्च देवयानमार्गमन्यथाऽधीयते "स एतं देवयानं पथानमापद्यग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुण-लोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकम्" इति । तथा वृहदारण्यके–य एवमेतद् विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्य-मुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः अपूर्यमाणपक्षमापूर्य-माणपक्षद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देव लोकादादित्यलोकं आदित्याद् वैद्युतं वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मलोकान् गमयति" इति। तत्रैव पुनरन्यथा "यदा वैपुरुषोऽस्मांल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा आडम्बरस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्" इत्यादि। तत्र संशयः किमर्चरादिरेक एव मार्ग आभिः श्रुतिभिः प्रतिपद्यत् इति, तेनैव ब्रह्म गच्छति विद्वान् उत् तस्मादन्येऽन्यत्रमार्गा इति तैर्वाऽनेन वेत्यनियमः ? इति। कि युक्तम् अनियम् इति, कुतः ? अनेकरूपत्वान्नैरपेक्ष्याच्चैति।

हृदय की विशेष नाडी के सहारे उत्क्रांत उपासक की गति उपक्रम का वर्णन किया गया। अब उसके जाने वाले मार्ग के विषय का निर्णय करते हैं। श्रुतियों के मार्ग का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि– छांदोग्य में–"जैसे कि कमल का पत्ता जल से पृथक रहता है, वैसे ही उपासक पापकर्म से असंश्लिष्ट रहता है" इस प्रकार उपक्रम करते हुए ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर कहते हैं–"वे जो इस प्रकार जानते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को दिवसाभिमानियों से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानियों से जिन छः महीनों से सूर्य उत्तर की ओर जाता है, उन छः महीनों को, उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को, और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं वहाँ एक अमानव पुरुष है जो कि उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं, यह देव मार्ग ब्रह्ममार्ग है इस पथ पर आरूढ़ हुए पुरुष इस मानव देह में लौटकर नहीं आते" इत्यादि तथा इसी के आठवें अध्याय में कहा गया कि–"इन्हीं रश्मियों से ऊपर आक्रमित होते हैं,' इत्यादि। कौषीतकि में देवयान मार्ग का भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–"जो इस देवयान मार्ग में आरूढ़ होता है वह अग्नि लोक को जाता है, वह वायुलोक को जाता है, वह वरुणलोक को जाता

ankurnagpal108@gmail.com

है, वह आदित्य लोक को जाता है, वह इन्द्रलोक को जाता है, वह प्रजापति लोक को जाता है, वह ब्रह्मलोक को जाता है। "इत्यादि तथा वृहदारण्यक में वर्णन मिलता है–"जो इस प्रकार इसे जानते हैं अथवा जीवन में श्रद्धा से सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवताओं को दिन के अभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी देवता को पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है उन छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, षणमासाभिमानी देवताओं से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, और आदित्य से विद्युत्संबंधी देवताओं को प्राप्त होते हैं उन वैद्युत देवों के पास एक अमानव पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है "इत्यादि उसी उपनिषद में पुनः भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–" जब पुरुष मर कर इस लोक से जाता है वह वायु को जाता है वहाँ वह वायु छिद्रयुक्त होकर मार्ग दे देता है जैसा कि रथ के पहिए का छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है, वहाँ सूर्य उसके लिए वैसा ही छिद्रउक्त मार्ग देता है, जैसा कि डम्बर का छिद्र होता है, उससे वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह चन्द्र लोक में पहुँच जाता है, वहाँ चन्द्रमा भी उसे छिद्र दे देता है जैसा कि दुदुंभी का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह अशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है उसमें सदा –" इत्यादि। इस पर संशय होता है कि– अर्चिरादि के एक ही मार्ग का इन श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है, जिससे कि उपासक ब्रह्म को प्राप्त करता है, अथवा भिन्न-भिन्न मार्गों का प्रतिपादन है ? अथवा इन भिन्न मार्गों में से किसी से भी जाने का अनियम दिखलाया गया है ? विचारने पर अनियम ही समझ में आता है क्योंकि अनेक मार्गों का उल्लेख कोई विशेष अपेक्षित मार्ग तो बतलाया नहीं गया है।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्तेऽभिधीयते–अर्चिरादिना इति। अर्चिरादिरेक एवं मार्गः सर्वत्र प्रतिपाद्यते। अतोऽर्चिरादिनैव गच्छति। कुतः ? तत्प्रथितेः तस्यैव सर्वत्र प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव मार्गः सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत

ankurnagpal108@gmail.com

इति विद्यागुणोपसहांरवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते। छांदोग्ये तावदुपकोसलविद्यायां पंचाग्निविद्यायां चैकरूप एवाम्नायते, वाजसनेयके च पंचाग्निविद्यायां तथैवार्चिरादिः, अल्पान्तरमाम्नायते, अतस्तत्रापि स एवेति प्रतीयते। अन्यत्रापि सर्वत्राग्न्यादित्यादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "अर्चिरादिना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। एक ही अर्चिरादि मार्ग का सब जगह प्रतिपादन किया गया है। उपासक अर्चिरादि मार्ग से ही जाता है। उसी मार्ग से उसके जाने की सर्वत्र प्रसिद्धि है। उसी एक मार्ग का सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से वर्णन किया गया है। विद्याओं के गुणोपसंहार की तरह इसका भी अन्यत्र जो उल्लेख है उसका अन्यत्र उपसंहार किया गया है। जैसे कि छांदोग्य की उपकोसल और पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में उक्त मार्ग का एक-सा वर्णन किया गया है, वाजसनेयक की पचाग्नि विद्या में इस अर्चिरादि का कुछ थोड़े से अन्तर से वर्णन है, इसलिए वहाँ भीउसी का वर्णन प्रतीत होता है। अन्यत्र भी अग्नि आदित्य आदि की प्राप्ति प्रायः समान रूप से ही दिखलायी गई है।

२ वाय्वधिकरणः—

वायुमब्दादविशेष विशेषाभ्याम् ।४।३।२॥

अर्चिरादिनैव गच्छंति विद्वांस इत्युक्तम, तत्रार्चिरादिके मार्गे छंदोगाः मासादित्योरन्तराले संवत्सरमधीयेते—"मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" इति। वाजसनेयिनस्तुतयोरेवान्तराले देवलोकं—"मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्" इति। उभयत्रापि मार्गस्यैकत्वादुभयत्रोपसंहार्यौ। तात मासादूर्ध्वमभिहितयोः संवत्सर प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः देवलोकयोः पंचम्याभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वे हि—"अर्चिषोऽहरह्न अपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षद्यान् षड्दंगेति मासांस्तान्"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यधिककालानां न्यून कालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात् संवत्सरस्यैव मासादनंतरं बुद्धौ विपरिवृत्तेः संवत्सर एव मासादूर्ध्वं निवेशयितव्य इति तत ऊर्ध्वं देवलोक इति निश्चीयते ।

उपासक अचिरादि पथ से जाते हैं यह बतलाया गया । अचिरादि मार्ग के वर्णनों में कुछ भेद है उस पर विचार करते हैं जैसे कि–छांदोग्य में मास और आदित्य के बीच संवत्सर का वर्णन है–"मास से संवत्सर संवत्सर से आदित्य ।" वाजसनेयी में उन दोनों के बीच देवलोक का वर्णन है–"मासों से देवलोक देवलोक से आदित्य ।" मास से ऊपर जिन संवत्सर और देवलोक का पंचमी विभक्ति से उल्लेख किया गया है वह श्रौतक्रम के अनुसार ही है । "अर्चि अभिमानी से दिवसाभिमानी को, दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी को दिवसाभिमानी से उत्तरायण के महीनों को, उत्तरायण के महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से" इत्यादि में जो–समय के न्यूनाधिक क्रम का उत्तरोत्तर वर्णन किया गया है उससे, मास से बाद संवत्सर की स्थिति ही समीचीन प्रतीत होती है मास से संवत्सर में प्रवेश करने की बात ही बुद्धिगम्य होती है, इसके ऊपर देवलोक की स्थिति निश्चित होती है ।

अन्यत्र वाजसनेयिनः "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथ चक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यादित्यात्पूर्वं वायुमधीयते । कौषीतकिनस्तु–"स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्नि लोकमागच्छति स वायुलोकम्"इत्यग्निलोकशब्द निर्दिष्टादर्चिषः परं वायुमधीयते । तत्र कौषीतकिनां पाठक्रमेणार्चिषः परत्वेन प्राप्तस्य वायोः वाजसनेयिनां "तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यूर्ध्वशब्द निर्दिष्ट श्रौतक्रमेण पाठक्रमाद् बलीयसा आदित्यात्पूर्वंप्रवेशो निश्चीयते ।

दूसरी जगह वाजसनेयी में "यदावै पुरुषो" इत्यादि में आदित्य के पूर्व वायुलोक प्राप्ति की बात कही गई है । तथा कौषीतकि में–"स एतं देवयानं" इत्यादि में अग्निलोक शब्द से निर्दिष्ट अर्चि के बाद वायु-

ankurnagpal108@gmail.com

लोक के वर्णन से वाजसनेयी का "तेन स ऊर्ध्वं" इत्यादि वर्णन श्रौतक्रम से निर्दिष्ट ऊर्ध्व पद के पाठ के कारण श्रेष्ठ होता है, जिससे आदित्य से प्रथम वायुलोक में प्रविष्ट होना निश्चित होता है।

अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकोवायुश्चप्राप्तौ, तत्रेदं चिन्त्यते, किं देवलोकोवायुश्चार्थान्तरभूतौ यथेष्टक्रमेण विद्वान् अभिगच्छेत् उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं संतं वायुमभिगच्छेत् ? किं युक्तम् ? भिन्नार्थत्वं प्रसिद्धेः। भिन्नार्थत्वेचोर्ध्वशब्देन पंचम्या चोभयोः संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात् विशेषाभावाच्च यथेष्टम्।

इस प्रकार भिन्न प्रकरणों में संवत्सर के ऊपर आदित्य से प्रथम देवलोक और वायु का उल्लेख मिलता है। इस पर विचार होता है कि–देवलोक और वायु दोनों एक ही हैं जिनसे होकर उपासक जाता है अथवा संवत्सर से ऊपर देवलोक को पार कर वायु को जाता है ? वैसे दोनों की भिन्न अर्थों में ही प्रसिद्धि है, दोनों के लिए ही पंचमी का प्रयोग किया गया है, तथा दोनों की संवत्सर के ऊपर आदित्य के पहिले स्थिति बताई गई है इसलिए दोनों में किसी को भी माना जा सकता है, दोनों को भी माना जा सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते–वायुमब्दात् इति वायुं संवत्सरादूर्ध्वमभिगच्छेत्। कुतः ? अविशेष, विशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात्। देवलोक शब्दो हि अविशेषेण, सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुमभिधत्ते। "सवायुमागच्छति तस्मै स तत्र" इति वायुशब्दो विशेषेण वायुमभिधत्ते। अतो देवलोक वायुशब्दाभ्यां अविशेष विशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत्। कौषीतकिना वायुलोक शब्दश्चाग्निलोकशब्दवत् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्या वायुमेवाभिधत्ते। वायुश्चदेवानामावासभूत इत्यन्यत्र श्रूयते–"योऽयं पवत एष देवानां ग्रहाः" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त चिन्तन पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–संवत्सर से ऊपर वायु को ही जाते हैं। देवलोक और वायु का अविशेष और विशेष रूप से वर्णन किया गया है, विशेषता वायु का ही निर्देश है। देवलोक शब्द अविशेष है, देवताओं का लोक इस व्युत्पत्ति के अनुसार वायु का ही देवलोक के रूप में वर्णन किया गया है। "स वायुमागच्छति" इत्यादि में वायु शब्द का विशेषोल्लेख है, इसलिए वायु की बात ही ठीक है। देवलोक और वायु शब्दों के अविशेष और विशेषरूप से उल्लेख होने से संवत्सर से ऊपर वायु की स्थिति ही निश्चित होती है। कौषीतकि में जिस वायु का उल्लेख है, वह अग्नि लोक की तरह वायु लोक का ही है। वायु को देवताओं का आवास स्थान कहा भी गया है–"जो यह वायु है वह देवताओं का आवास स्थ ान है" इत्यादि।

३ वरुणाधिकरणः–

तटितोऽधिवरुणः संबंधात् ।४।३।३।।

कौषीतकिनां "स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम्" इत्याग्निलोक शब्दस्यार्चिः पर्यायत्वेन प्राथम्यविगीतम्। वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्तः। आदित्यस्याप्यत्र प्राप्त पाठक्रमबाधेन "देवलोकादादित्यमादित्याद्-वैद्युतम्" इति वाजसनेयकोक्त श्रुतिक्रमादेवलोक शब्दाभिहिताद्-वायोरुपरि निवेशः सिद्धः। इदानीं वरुणेन्द्रादिषु चिन्ता। किमेते वरुणादयो यथापाठं वायोरूर्ध्वं निवेशयितव्याः, आहोस्वित् विद्युतोऽधीति विशये अर्चिः प्रभृतिषु सर्वेषु "अर्चिषोऽहः" इत्यादि श्रुतिक्रमोपरोधाद् विद्युतः परस्ताच्च "तत्पुरुषोऽमानवः स एवान् ब्रह्म गमयति" इति विद्युतपुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रवणात् सर्वत्रावकाशाभावेना प्राप्तौ च उपदेशा वैयर्थ्यायावश्यं कस्यचिद्

ankurnagpal108@gmail.com

बाध्यत्वे पाठक्रमानुरोधेन वायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः वाय्वादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापती अपि हि अत्रैव निवेशयितव्यौ ।

कौषीतकी में वर्णन आता है—"वह इस देवपथ पर आरूढ़ होकर अग्निलोक पहुँचता है, फिर वह क्रमशः वरुणलोक, आदित्य लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक, होकर ब्रह्मलोक पहुँचता है" इत्यादि। इसमें अग्निलोक शब्द अर्चि का पर्यायवाची है इसलिए उसका सर्वप्रथम वर्णन किया गया है। पहिले वायु का संवत्सर से ऊपर निवेश बतलाया गया है। "देवलोकात् आदित्यम आदित्याद् वैद्युतम्" इत्यादि वाजसनेयी श्रुति क्रम से भी, देवलोक शब्द वाची वायु के ऊपर सूर्य लोक का निवेश निश्चित होता है जब कि उक्त कौषीतकि वाक्य में आदित्य का पाठ्य क्रम भी बदला है इस वाक्य में वरुण इन्द्र आदि का विशेषोल्लेख है इस पर विचारना यह है कि इन वरुण इन्द्रादि को पाठ्यक्रम के अनुसार वायु के ऊपर निविष्ट किया जाय अथवा विद्युत लोक के नीचे ? समझ में तो यही आता है कि—"अर्चिषोहः" में जो क्रम दिया गया है उसके अनुसार तो विद्युत के बाद ही इनका निवेश होना चाहिए "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में जिस अमानवीय विद्युत पुरुष की ब्रह्मलोक तक पहुँचाने की चर्चा आई है उससे तो विद्युत से प्रथम किसी के होने का अवसर ही नहीं है, साथ ही ऐसा न मानने पर उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध होता है, इसलिए पाठक्रमानुसार वायु के बाद ही वरुण को प्रवेश करना चाहिए' तथा वायु और आदित्य के क्रम में बाधा न हो इसलिए इन्द्र और प्रजापति को भी यहीं प्रविष्ट करना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—"तरितोऽधिवरुणः" इति। वरुणः तावद् विद्युत् उपरिष्टात् निवेशयितव्यः। कुतः ? संबंधात्-मेघोदरवर्तित्वात् विद्युतो वरुणेन संबंधो लोक वेदयोःप्रसिद्धः। एतदुक्तं भवति—वरुणादीनामुपदेशावैयर्थ्यायक्वचिन्निवेशयितव्यत्वे सति पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वाद् विद्युतोऽधिवरुणो निवेशयितव्यः, ततश्चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

तस्य च व्यवधानसहत्वात् इन्द्रादेश्चोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागन्तूनामंते निवेशयितव्यत्वाच्च वरुणादुपरीन्द्रादिर्निवेशयितव्य इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए, क्योंकि लोक और वेद में, मेघ के उदर में व्याप्त होने से, विद्युत का वरुण के साथ, प्रसिद्ध संबंध है। कथन यह है कि–वरुण आदि का जो देवयान पथ में उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ न होने पावे, उन्हे कहीं तो स्थान देना ही होगा, इसलिए पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान होता है इस सिद्धान्त के अनुसार वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए तभी अमानव पुरूष के ले जाने की बात व्यवधान के साथ बन सकेगी। उसका जो व्यवधान है उसी में इन्द्र आदि का निवेश किया जाना चाहिए। वरूण से ऊपर उन सबका उल्लेख किया गया है इसलिए वरुण से ऊपर ही इन्द्र आदि का निवेश होना चाहिए।

४. आतिवाहिकाधिकरणः—

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ।४।३।४।।

इदमिदानीं चिन्त्यते, किमर्चिरादयोः मार्गचिन्हभूतः उत् भोगभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेप्सितामतिवोढारः ? इति किं तावद् युक्तम् ? मार्ग चिन्हभूता इति, कुतः ? उपदेशस्य तथा विधत्वात्, दृश्यते हि लोके ग्रामादीनप्रति गंतृणामेवंविधो दैशिकैरुपदेशः–"इतोनिष्क्राभ्यामुकं वृक्षं अमुकां नदीं अमुकं च पर्वतपार्श्वं गत्वाऽमुकं ग्रामंगच्छ" इति ।

अथवा भोगभूमयएताः स्युः, काल विशेषतया–प्रसिद्धानामहरादीनां मार्गह्नित्वानुपपत्तेरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषामनिधायकत्वात् । भोगभूमित्वं च "एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः" इत्यहरादीनां लोकत्ववचनादुपपद्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अतएव च कौषीतकिनः "अग्निलोकमागच्छति" इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीन् पठन्तीति ।

अब यह विचारते हैं कि-यह अर्चिरादि केवल मार्ग के चिह्नमात्र हैं अथवा भोगभूमियाँ हैं अथवा उपासक को ब्रह्म की ओर ले जाने वाले दूत हैं ? मार्ग के चिह्न हो सकते हैं, ऐसा देखा जाता है कि-गाँव की ओर जाने वाले पथिक को प्रायः बतलाया जाता है कि-"यहाँ से निकल कर अमुक वृक्ष पड़ेगा तब आपको एक नदी दीखेगी उससे पर्वत के किनारे किनारे जाकर वो गाँव पड़ेगा" वैसे ही ब्रह्मलोक की ओर जाने वाले उपासक के लिए ये अर्चिरादि परिचायक चिह्नमात्र ही हैं ।

अथवा भोगभूमि भी हो सकती हैं । कालविशेष रूप से प्रसिद्ध दिनमास आदि मार्ग के चिह्न नहीं हो सकते, मार्ग- के चिह्नरूप से इनका उल्लेख भी नहीं मिलता भोग्य भूमि के रूप में तो इनका वर्णन आता भी है-"ये रात्रि दिन, मास, ऋतुएं और संवत्सर सब लोक हैं" इत्यादि । इसी प्रकार कौषीतकी में भी-"अग्निलोक में पचहुँता है" इत्यादि से अर्चिरादि को लोक रूप से बतलाया गया है । इसलिए ये सब लोक भोग्य भूमि ही हैं ।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्ते ब्रूमः-"आतिवाहिका" इति । विदुषामतिवाहे परंपुरुषेण नियुक्ताः, आतिवाहिकाः देवताविशेषा एते अर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिगात्-अतिवहन लिगात् । अतिवहनं हि गन्तृणां गमयितृत्वम् । गमयितृत्वं च-"तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्युपसंहारे श्रूयमाणं पूर्वेषामप्यविशेष श्रुतानां स एव संबंध इति गमयति । वदंति चार्चिरादयः शब्दाः, अर्चिराद्यात्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् । "तं पृथिव्यब्रवीत्" इतिवत् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से-"आतिवाहिका" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उपासक को ले जाने वाले, परंपुरुष की ओरसे नियुक्त, आतिवाहिक देवताविशेषों को ही अर्चिरादि नाम से बतलाया गया है । अतिवहन का चिह्न भी इनमें पाया जाता है । जाने वाले को लें जानें

ankurnagpal108@gmail.com

के सामर्थ्य को अतिवहन कहते हैं। जैसा कि-"वह अमानव पुरुष इन्हे ब्रह्म की ओर पहुँचाता है "इत्यादि उपसंहार के वाक्य से ज्ञात होता है। अर्चिरादि शब्द, अर्चिरादि के आत्मभूत अभिमानी देवता विशेष के परिचायक हैं। जैसे कि-"उससे पृथ्वी बोली" इत्यादि।

यद्येवं "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति वैद्युतस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रुतेर्विद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमातिवाहिकत्वेनान्वय इत्यत्राह-

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म की ओर पहुँचाता है" में तो केवल, वैद्युत पुरुष को ही ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है, फिर विद्युत से भिन्न वरुणादि का आतिवाहिक के रूप से समन्वय कैसे संभव है?

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।५।

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन-अमानवेनैवातिवाहिकेन विदुषा-माब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्। कुतः ? तच्छ्रुतेः "स एनान् ब्रह्म गमयति" इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्युत इति।

विद्युत से ऊपर-उस अमानव आतिवाहक वैद्युत पुरुष की, उपासक को, ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है।, "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यादि श्रुति उसका ही आतिवाहकत्व वहाँ पर बतलाती है। वरुण इत्यादि तो उसके अनुग्राहक मात्र हैं इसलिए उनका भी अतिवाहक रूप से अन्वय हो सकता है।

५. कार्याधिकरणः-

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।६।।

अर्चिरादिरेव गच्छति विद्वान्, अर्चिरादिरमानवांतश्च गण आतिवाहिको विद्वांसं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम्। इदं इदानीं चिन्त्यते-किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनान्नयति, उत् परमेव

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म उपासीनान्, अथ परंब्रह्मोपासीनान् प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मक तयोपासीनांश्च ? इति विशये—कार्यमुपासीनानेव गमयति इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः, न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतम् परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव नित्य प्राप्त परब्रह्म विषयाविद्या निवृत्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम् । कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्त्ति प्राप्त्यर्थं गमनमुपपद्यते । अतोऽर्चरादिरातिवाहिकगणस्तमेव नयति ।

उपासक अर्चिरादि द्वारा जाता है, अमानव अर्चिरादि आतिबाहिक गण, उपासक को ब्रह्म तक पहुँचाते हैं' यह बतलाया गया । अब विचार यह होता है कि—अर्चिरादिगण, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के उपासकों को पहुँचाते हैं अथवा परब्रह्म के उपासकों को अथवा उपासकों में उनको ही पहुँचाते हैं जो ब्रह्मात्मक भाव से उपासना करते हैं ? इस संशय पर बादरि आचार्य का मत है कि—कार्यब्रह्म के उपासकों को ही पहुँचाते हैं । हिरण्यगर्भ के उपासक के गमन की बात हो सकती है, परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वगत, सर्वात्मभूत परब्रह्म के उपासकों को उसे प्राप्त करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है, वह तो उन्हें प्राप्त ही है, नित्य प्राप्त परब्रह्म के विषय में जो अविद्या है' उसकी निवृत्ति करना ही तो परविद्या का कार्य है, उसकी निवृत्ति होते ही सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने लगती है । हिरव्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म के उपासक को ही, देश-विशेष ब्रह्मलोक में जाने की बात हो सकती है । अतः अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हीं को ले जाते हैं ।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।७।।

"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति" इति लोक शब्देन बहुवचनेन च लोकविशेष वर्त्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते । किं च "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, इति

ankurnagpal108@gmail.com

कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभिसंधत्ते ।

"अमानव पुरुष लेकर ब्रह्म लोक जाता है" इत्यादि वाक्य में जो लोक शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह लोक विशेषवर्ती हिरण्यगर्भ के उपासक को ही ले जाता है, इस भाव का द्योतक है। "प्रजापति के सभामंडल में उपस्थित होते हैं" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से अर्चिरादि द्वारा, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के निकट ले जाने की बात कही गई है।

नन्वेवं "तत्पुरुषोऽमानवः" स एनान् ब्रह्मगमयति" इत्यर्थ निर्देशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भनयने हि "स एनान् ब्रह्माणं गमयति" इति निर्देष्टव्यं स्यात् । अत आह—

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है" ऐसा निर्देश नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भ के पास ले जाने के प्रसंग में तो उक्त वाक्य के स्थान पर "वह इन्हें ब्रह्मा के पास ले जाते हैं" ऐसा पाठ होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।८॥

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्म सामीप्यात्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्ति विशेषणादिभिरुक्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ।

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इत्यादि में हिरण्यगर्भ का सर्वप्रथम अजरूप से वर्णन किया गया है, तथा ब्रह्म के समीपवर्ती होने से उन्हें भी ब्रह्म ही कहा गया है इसलिए उनके निकट ले जाने की बात कोभी "ब्रह्म के पास ले जाते हैं" ऐसा कहा गया है।

अथ स्यात्—अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ "एषदेवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्ति व्यपदेशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भस्य कार्यभूतस्य द्विपरार्ध कालावसाने विनाश शास्त्रात्

ankurnagpal108@gmail.com

"आब्रह्म भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः" इति वचनात् हिरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेरवर्जनीयत्वात–इति । तत्राह–

यदि अचिरादि द्वारा हिरण्यगर्भ की प्राप्ति मानेंगे तो "इस देवमार्ग ब्रह्मपथ को प्राप्त मानव इस संसार में लौटकर नहीं आता" उससे ऊपर जाकर अमृतत्व प्राप्त करता है "इत्यादि फलश्रुति की संगति नहीं होगी। कार्यभूत हिरण्यगर्भ का तो द्विपरार्ध के अवसान में, शास्त्र से ही विनाश निश्चित है–" हे अर्जुन ! ये ब्रह्मसहित सारेलोक पुनरावर्त्त होते हैं" इत्यादि से, हिरण्यगर्भ को प्राप्त व्यक्ति की पुनरावृत्ति निश्चित हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।९॥

कार्यस्य–ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण–हिरण्यगर्भेणाधिकारिकेणावसिताधिकारेण विदुषासह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः अतः कार्याद् ब्रह्मलोकात् परंब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्व-प्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानात् "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यंति सर्वे" इति वचनाच्चावगम्यते ।

कार्य ब्रह्मलोक के अवसान होने पर उसके अध्यक्ष के सहित उपासक भी कृतार्थ होकर अर्चिरादि द्वारा पुनरावृत्ति रहित अमृतत्व प्राप्त करता है ऐसा –"वे ब्रह्मलोक से परार्धकाल में मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं" इत्यादि से ज्ञात होता है।

स्मृतेश्च ।४।३।१०॥

स्मृतेश्चायमर्थोऽवगम्यते–"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशंति परं पदम्" इति । अतः कार्यमुपासीनमेवार्चिरादिकोगणो नयतीति बादरेर्मतम् ।

स्मृति से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है–"प्रत्येक प्रलय में वे सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परंपद प्राप्त करते हैं" इसलिए कार्य-ब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादि गण ले जाते हैं, ऐसा बादरि का मत है।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्र जैमिनिः पक्षान्तर परिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते–

इस पर उत्तर पक्ष को लेकर जैमिन उपस्थित होते हैं—

परंजैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।११॥

परं ब्रह्मोपासीनानर्चिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? मुख्यत्वात् "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्म शब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । प्रमाणान्तरेण कार्यस्य निश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्व युक्तम् । न च गमनानुपत्तिः प्रमाणम् परस्यब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेश गतस्येवाविद्या निवृत्ति शास्त्रात् । यथा हि विद्योत्पत्तिावर्णाश्रमधर्म शौचाचारदेशकालाद्यपेक्षा–"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि शास्त्रादवगम्यते, तथा निःशेषाविद्यनिवर्त्तनरूपविद्या निष्पत्तिरपि विशिष्ट देशगतिसापेक्षेति गतिशास्त्रादवगम्यते । विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिहृतम् ।

परब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादिगण ले जाते हैं ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में ब्रह्म शब्द का पर ब्रह्म में ही मुख्यार्थ है । प्रमाणान्तरों से कार्यब्रह्म का जो निर्णय होता है वह लाक्षणिक अर्थ है । जो यह कहा कि–सर्वगत परब्रह्म को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह असंगत बात है, शास्त्र तो विशिष्ट देश की प्राप्ति होने पर ही उपासक की अविद्या निवृत्ति बतलाते हैं । जैसे कि–विद्योत्पत्ति में, वर्णाश्रम धर्म शौच आचार देश काल आदि अपेक्षित है "तमेतं वेदानुवचनेन" से स्पष्ट है, वैसे ही-सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति के लिए विशिष्ट देश की गति अपेक्षित है जो कि गति वर्णन करने वाले शास्त्र से ज्ञात होता है । उपासक की उत्क्रांति के प्रतिषेध आदि का तो पहिले ही परिहार हो चुका है ।

यत्तु "ब्रह्मलोकान्" इति लोकशब्द बहुवचनाभ्यां विशेषणात् कार्यभूतहिरण्यगर्भप्रतीतिरिति, तदयुक्तम् निषादस्थपतिन्यायेन

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वे निश्चिते सति बहुवचनस्य "अदितिः पाशान्" इतिवदुपपत्तेः, परस्यब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसंकल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय न संति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात् ।

जो यह कहा कि–लोक शब्द और बहुवचन के प्रयोग से कार्यभूत हिरण्यगर्भ की ही प्रतीति होती है, यह कथन भी असंगत है, निषादस्थपति न्याय की तरह कर्मधारय करना ही सुसं- गत है, एकार्थता के निश्चित हो जाने पर "अदितिः पाशान्" की तरह बहुवचन की उपपत्ति हो जायेगी। श्रुतिस्मृति इतिहास पुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि– यह विशिष्ट लोक सर्वगत सत्यसंकल्प, परिपूर्ण परब्रह्म की स्वेच्छित परिकल्पना ही है, इस ब्रह्मलोक से भिन्न कोई भी असाधारण अप्राकृत लोक आत्यंतिक मुक्ति नहीं दे सकते।

दर्शनाच्च ।४।३।१२।।

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्रह्म प्राप्तिम्–"एष संप्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति ।

मुर्धन्य नाडी से निकलकर देवयान मार्ग से जाने वाले उपासक की ब्रह्मप्राप्ति का श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है "यह जीव इस शरीर से उठकर परब्रह्म की सी ज्योति प्राप्ति कर अपने स्वरूप में आ जाता है।

यदुक्तं–"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्ये प्रत्यभिसंविद्यते इति–तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि–"प्रजापति के सभामंडप को प्राप्त होते हैं" इत्यादि वर्णन से यह निश्चित होता है कि–अर्चिरादि कार्यब्रह्म की ओर ही ले जाते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

न च कार्ये प्रत्यभिसंधिः ।४।३।१३।।

न चायं प्रत्यभिसंधिः कार्ये हिरण्यगर्भे, अपितु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वाक्यशेषे—"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इति तस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमोक्षपूर्वक सर्वात्मभावाभिसंधानात् "अश्व शरीरमकृतं इवरोमाणि विधूयपापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इत्यभिसंभाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्, सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणात् । अतः परमेव ब्रह्मोपासीनमर्चिरादिरातिवाहिको गणोनयतीति जैमिनेर्मतम् ।

उक्त अभिसंधि कार्य हिरण्यगर्भ संबंधी नहीं है अपितु परब्रह्म संबंधी ही है, उक्त वाक्य के अंत में जो यह कहा गया कि—"मैं ब्राह्मणों का यश होता हूँ" इत्यादि, का तात्पर्य परमात्मा से अभिसंधान करने वाले की सारी अविद्या नष्ट हो जाती है और वह सर्वात्मभाव की भूमि पर पहुँच जाता है । "घोड़े की तरह पाप रूपीरोयों को झाड़कर राहु के मुख से मुक्त चन्द्र की तरह शरीर के पापों को धोकर कृतार्थ उपासक को ब्रह्मलोक ले जाता हूँ" इत्यादि में ब्रह्मलोक में जाने वाले के निष्पापता के वर्णन से तथा अविद्या के बंधनों की मुक्ति के वर्णन से यह निश्चित होता है कि परब्रह्म के उपासक को ही, अर्चिरादि आतिवाहिक गण ले जाते हैं, ऐसा जैमिनि का मत है ।

इदानीं बादरायणस्तु भगवान स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मतानुसार सिद्धान्त कहते हैं—

अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ।४।३।१४।।

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यर्चिरादिरातिवाहिकोगण इति भगवान बादरायणो मन्यते, एतदुक्तं भवति-कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षः संभवति, परमेवोपासीनानित्य-

ankurnagpal108@gmail.com

यमपिनियमो नास्ति, न च प्रतीकालंबनानपि नयति, अपितु ये परंब्रह्मोपासते। ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते, तानुभयविधान्नयति। ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तूपासते न तान्नयति। अतः परंब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति—इति।

जो प्रतीकालम्बन नहीं करते, अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हें ही ले जाते हैं, ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। कहने का तात्पर्य यह है कि—कार्य ब्रह्म के उपासकों को ले जाते हैं यह तो कदापि संभव नहीं है, परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है और न प्रतीकालम्बन वालों को ही ले जाते हैं, अपितु जो पर ब्रह्म के उपासक हैं या प्रकृति वियुक्त अपने आत्मा की ब्रह्मात्मभाव से उपासना करते हैं, इन दोनों को ले जाते हैं। जो लोग, देवदत्त में सिंह आदि दृष्टि की तरह ब्रह्म दृष्टि रखकर, व्यक्ति पूजा करते हैं, उनको नहीं ले जाते [अर्थात् जैसे कि—देवदत्त सिंह है इत्यादि भाव की तरह अमुक व्यक्ति भगवान है ऐसे भाव से जो लोग व्यक्ति पूजा करते हैं] इसका निष्कर्ष यह है कि—परब्रह्म के उपासक को तथा प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्मभाव के उपासक को ही ले जाते हैं।

कुतः ? उभयथा च दोषात्। कार्यमुपासीनान्नयतीति पक्षे "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादिका श्रुतयः प्रकुप्येयुः परमेवोपासीनानिति नियमे—"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति पंचाग्निविदोऽर्चिरादिगणोनयतीति श्रुतिः प्रकुप्येत्। अतः, उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषः स्यात्। तस्मादुभयविधान्नयतीति। तदेतदाह क्रतुश्च-इति। तत्क्रतुः तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः "यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति "तं यथायथोपासते" इति न्यायात्। पंचाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गति श्रवणात्, अर्चिरादिना

ankurnagpal108@gmail.com

गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्ति श्रवणात् । अतएव तत्क्रतुन्यायात् प्रकृतिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धम् । नामादि प्राणपर्यन्त प्रतीकालम्बनानां तूभयविधश्रुतिसिद्धोपासनाभावादचिन्मिश्रोपासने तत्क्रतुन्यायाचार्चिरादिना गतिः ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ।

उक्त दोनों मतों में ही दोष है। कार्यब्रह्म के उपासकों को ले जाने वाले पक्ष को मानने से "इस शरीर से उठकर परंज्योति से संपन्न होकर" इत्यादि श्रुतियों से विरुद्धता होती है। तथा परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं इसको मानने पर-"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि, पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं को अर्चिरादि गणों द्वारा पहुँचाने वाली श्रुति से विरुद्धता होती है। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार के उपासकों को ले जाते हैं। उसकी जिस प्रकार उपासना की जाती है, उसकी वैसी ही गति होती है जैसा कि-"इस लोक में जैसी उपासना करते हैं, मरने पर वैसी ही गति पाते हैं" इत्यादि। पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं की भी अर्चिरादि गति का उल्लेख है तथा अर्चिरादिकों द्वारा पहुँचाये जाने पर ब्रह्म प्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती इसका भी उल्लेख मिलता है। इसलिए उपासनानुसार गति होती है इस नियम से, प्रकृतिविनुर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव वाले उपासक की मुक्ति भी सिद्ध है। नाम से लेकर प्राण तक प्रतीक का आश्रय लेकर उपासना करने वालों की अर्चिरादि गति नहीं होती, क्योंकि-जो दो प्रकार की अर्चिरादि गति बतलाई गई है उससे कहीं भी प्रतीकोपासकों की गति का उल्लेख नहीं है।

तमिमं विशेषं श्रुति रेव दर्शयतीत्याह ।

उसके विषय में विशेष श्रुति का प्रदर्शन करते हैं-

विशेषं च दर्शयति ।४।३।१५॥—

"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" इत्यादिका श्रुतिः नामादिप्राणपर्यन्त प्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमित फलविशेषं च दर्शयति, तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वाचिद्वस्तु ब्रह्म

ankurnagpal108@gmail.com

दृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानाति-वाहको गणो नयतीति सिद्धम्।

"जो नामोपासना करते हैं, वे मरने के बाद यथेच्छ विचरण करते इत्यादि श्रुति नाम से लेकर प्राण तक प्रतीकोपासना करने वालों की गति होने पर परिमित फलविशेष का उल्लेख करती है। इससे यह निश्चित होता है कि-जो लोग अचिद् वस्तु या अचिद्मिश्रित वस्तु में ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते हैं उनको अचिरादिगण नहीं ले जाते, अपितु ब्रह्मोपासकों और प्रकृतिवियुक्त में ब्रह्मात्मकभाव के उपासकों को ही ले जाते हैं।

तृतीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

१ संपद्याविर्भावाधिकरण :—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१॥

परंब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानामर्चिरादिना मार्गेण पुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता, इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते ।

परब्रह्म के उपासकों और प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्म भाव के उपासकों को अर्चिरादि मार्ग से जाने पर पुनः लौटकर नहीं जाना पड़ता यह बतलाया गया । अब मुक्त जीवों के ऐश्वर्य के प्रकार पर विचार प्रारंभ करते हैं ।

इदमाम्नायते--"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । किमस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य देवादि रूपवत्साध्येन रूपेण संबंधोऽनेन वाक्येन प्रतिपद्यते, उत स्वाभाविकस्य स्वरूपस्याविर्भावः ? इति संशये, साध्येन रूपेण संबंध इति युक्तम् । अन्यथा हि अपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशास्त्रस्य स्यात् । स्वरूपस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वदर्शनात् । न हि सुषुप्तौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरेतषु केवल स्यात्मस्वरूपस्य पुरुषार्थसंबंधो दृश्यते, न च दुःखनिवृत्तिमात्रं परंज्योतिरूपसंपन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः, इत्युच्येत् । "स एको ब्रह्मण आनंदः, श्रोत्रियस्य चाकामहृतस्य"

ankurnagpal108@gmail.com

रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदीभवति" इत्यादिभ्यो मुक्तस्यसुखानंत्या श्रवणात्।

ऐसी श्रुति है—"यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से आविर्भूत होता है।" संशय यह होता है कि—क्या इस शरीर से उठकर परं ज्योति को प्राप्त जीव को देवादि की तरह साध्य रूप से अपने रूप की प्राप्ति होती है अथवा स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है? विचारने पर तो साध्यरूप संबंध ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है? यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शास्त्र, अपुरुषार्थ का बोधक सिद्ध हो जायेगा। अपने स्वरूप को तो अपुरुषार्थ ही बतलाया गया है। सुषुप्तावस्था में जब देह इन्द्रिय आदि की चेष्टायें लुप्त हो जाती हैं केवल आत्मस्वरूप की ही स्थिति रहती है, उसे तो कहीं भी पुरुषार्थ नहीं कहा गया है और न दुःख निवृत्ति मात्र को परंज्योति प्राप्त रूप पुरुषार्थ माना गया है, जिससे कि—स्वरूपाविर्भाव को ही मोक्ष माना जा सके। "निष्काम श्रोत्रिय का वह एक ब्रह्मानंद है" इस रस को प्राप्त कर वह आनंद प्राप्त करता है" इत्यादि से मुक्त जीव के अनंत सुख प्राप्ति की बात ज्ञात होती है उससे भी स्वरूपाविर्भाव की बात समझ में नहीं आती।

न चापरिच्छिन्नानंदरूपचैतन्यमेवास्य स्वरूपम्, तच्चसंसारदशायामविद्या तिरोहितं परंज्योतिरूपसंपन्नस्याविर्भवतीति शक्यम् वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य तिरोधानासंभवात। प्रकाश पर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवेति हि पूर्वमेवोक्तम्।

यह भी नहीं कह सकते कि—अखंड आनंद स्वरूप चैतन्य ही, स्वरूप है जो कि संसार दशा में अविद्या से तिरोहित रहता है, परंज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत हो जाता है; ज्ञान स्वरूप का तिरोधान नहीं हो सकता। ज्ञान, प्रकाश का ही दूसरा नाम है, प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य है प्रकाश या ज्ञान का नाश, जो वस्तु अविद्या से नष्ट हो चुकी उसके पुनराविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, यह हम पहिले भी कह चुके हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

न च प्रकाशमात्रस्यानंदता संभवति, सुखस्वरूपता हि आनंदस्वरूपता, सुखस्वरूपत्वं ह्यात्मनोऽनुकूलत्वं, प्रकाशमात्रात्मवादिनः कस्यप्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवादिनः कथं चिदप्यानंदस्वरूपता दुरुपपादा। स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्ये स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसंपन्नस्य "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकं स्यात्। अतो अपूर्वेण साध्येन रूपेण संपद्यते। एवं च "अभिनिष्पद्यते" इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति। "स्वेन रूपेण" इत्यप्यानन्दैकांतेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यत इति संगच्छत इति।

प्रकाश मात्र वस्तु में आनंदता संभव भी नहीं है सुखस्वरूपता ही तो आनंद स्वरूपता है, अपनी अनुकूल अनुभूति को ही सुखरूपता कहा गया है, प्रकाशमात्र को आत्मा मानने वालों के प्रकाश की कैसी अनुकूल अनुभूति होती है? क्या वे बतला सकते हैं? वे लोग कभी भी, आनंद-स्वरूपता का विवेचन नहीं कर सकते हैं। स्वरूप तो नित्यनिष्पन्न वस्तु है, उसकी निष्पन्नता को बतलाने वाला वाक्य "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" तो अनर्थक ही हो जावेगा, यदि केवल स्वरूपापत्ति को ही मुक्ति मानेंगे। इसलिए अपूर्व साध्य स्वरूप की निष्पन्नता होती है यही मानना चाहिए ऐसा मानने से ही "अभिनिष्पद्यते" वचन की मुख्यार्थता होती है। "स्वेन रूपेण" से भी अपने स्वरूप से भिन्न अखंड आनंदमयता का भाव प्रकट होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"संपद्याविर्भावः" इति। अयं प्रत्यगात्माऽर्चिरादिना परंज्योतिरुपसंपद्य यंदशाविशेषमापद्यते स स्वरूपाविर्भावरूपः, नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः। कुतः? स्वेन शब्दात् "स्वेनरूपेण" इति विशेषणोपादानादित्यर्थः। आगंतुक विशेष परिग्रहे हि "स्वेन रूपेण" इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-यह जीवात्मा अर्चिरादिकों द्वारा परमात्म ज्योति को प्राप्त कर जिस दशा विशेष को प्राप्त करता है वह स्वरूपाविर्भाव रूप ही है, अपूर्व आकारोत्पत्तिरूप नहीं है। श्रुति में स्पष्ट रूप से स्व शब्द का प्रयोग किया गया है "स्वेन रूपेण" इत्यादि। विशेषोउल्लेख से हमारा मत ही सिद्ध होता है। यदि, विशेष अपूर्व रूप प्राप्ति की बात मानेंगे तो, "स्वेन रूपेण" में कहा गया विशेषण अनर्थक हो जायगा यदि उसे विशेषण न भी मानें तो भी, स्वकीय रूपता तो उसकी सिद्ध ही है।

यत्तूक्तं स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात् "संपद्याभिनिष्पद्यते इति वचनमनर्थकम्—तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि स्वरूप तो नित्य प्राप्त वस्तु है इसलिए "संपद्याभिनिष्पद्यते" वचन अनर्थक हो जायगा—उसका उत्तर देते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२॥

कर्मसंबंधतत्कृतदेहादिविनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युच्यते। अतो नित्यप्राप्तस्यापिस्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्तिरत्राभिनिष्पत्तिरुच्यते। कुतः? प्रतिज्ञानात्—सा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता। कुतः इदमवगम्यते? "य आत्मा" इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरिताद्यवस्थात्रितयविनिर्मुक्तं, प्रियाप्रियहेतुभूत कर्मारब्ध शरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुं—"एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति पुनः पुनरुक्त्वा "एवमेवैषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यभिधानात् अतः कर्मणा संबद्धस्य परंज्योतिरुपसंपद्य बंन्धनिवृत्तिरूपामुक्तिः स्वेनरूपेणाभि निष्पत्तिरुच्यते। स्वरूपाविर्भावेऽप्यभिनिष्पत्तिशब्दो दृश्यते—"युक्त्यायमर्थो निष्पद्यते" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

कर्म संबंधी देह आदि से विमुक्त स्वाभाविक रूप से अवस्थित जीव को ही उक्त प्रसंग में "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" पद से कहा गया है। स्वरूप के नित्य होते हुए भी, कर्म रूपा अविद्या से वह तिरोहित रहता है, उस तिरोधान की निवृत्ति होने को ही यहाँ निष्पत्ति कहा गया है। ऐसा प्रतिपादन की शैली से ही ज्ञात हो जाता है। "य आत्मा" से, जागरित आदि तीनों अवस्थाओं से रहित प्रकृत जीवात्मा का निर्देश करके पाप पुण्य के हेतु भूत कर्मारब्ध शरीर से रहित स्वरूप का प्रतिपाद न करने के लिए "इसकी मैं तुझे पुनः व्याख्या करता हूं" इत्यादि पुनःपुनः व्याख्या करते हुए "इस प्रकार यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर स्वरूप संपन्न होता है "इत्यादि विवेचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि-कर्म से संबद्ध इस जीवात्मा को जब परंज्योति की प्राप्ति होती है तब वह, बंधनिवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्त कर अपने स्वाभाविक निष्पन्न रूप को प्राप्त करता है स्वरूपाविर्भाव के अर्थ में अभिनिष्पन्न शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— "युक्ति से यह अर्थ निष्पन्न हुआ" इत्यादि।

यच्चोक्तम्-आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तावपुरुषार्थत्वदर्शनात् स्वरूपाविर्भावे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थावबोधित्वंस्यादिति कृत्वादेवाद्यवस्थावत् सुखसंबंध्यवस्थांतरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति तत्रोत्तरम्-

जो यह कहा कि सुषुप्तावस्था में भी तो देह इन्द्रियाँ आदि के निश्चेष्ट होने पर स्वरूप स्थिति रहती है उसे तो कोई मुक्ति नहीं कहता तथा स्वरूपाविर्भाव में-मोक्ष शास्त्र की अपुरुषार्थता होती है, इसलिए देवादि अवस्था की तरह सुख संबंधी दूसरी अवस्था की प्राप्ति को ही निष्पत्ति मानना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

आत्माप्रकरणात् ।४।४।३।।

स्वरूपेणैवायमात्मा अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वपर्यन्त गुणकः प्रकरणादवगम्यते—"य आत्माऽपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति हि प्रजापति वाक्यप्रक्रमः, इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति—

ankurnagpal108@gmail.com

"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो अपहत पाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा संसारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितः स्वरूपः परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनो अपहतपाप्मत्वादयः स्वाभाविक गुणाः परंज्योतिरुप-संपन्नस्याविर्भवंति, नोत्पद्यन्ते । यथोक्तं भगवताशौनकेनापि-"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः, दोषप्रहाणान्न ज्ञान-मात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानकरणात् क्रियते न जलांबरम्, सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः । तथा हेमगुणध्वंसात् अवबोधादयो-गुणाः प्रकाशंते न जन्यन्ते नित्या एव आत्मनो हि ते । "अतो ज्ञानानंदादिगुणानां कर्मणा आत्मनि संकुचितानां परंज्योतिरुप-संपद्य कर्मरूपबन्ध क्षये विकाशरूपाविर्भावो नानुपपन्न इति सुष्ठूक्तं-"संपद्याविर्भाव." इति।

मुक्तावस्था में यह आत्मा स्वरूप प्राप्ति ही करता है, निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पत्व तक इसके स्वरूप गत स्वाभाविक गुणों का उल्लेख प्रकरण में मिलता है--"जो निष्पाप,, अजर, अमर विशोक भूख प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है" यह प्रजापति वाक्य का प्रसंग है, यह प्रकरण जीवात्मा सबंधी है, इसका प्रतिपादन "उत्तराच्चेदावि-भूतस्वरूपस्तु" में किया गया है । निष्पापता आदि गुणों वाला यह आत्मा, संसार दशा में कर्म नामक अविद्या से तिरोहित हो जाता है परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत स्वरूप होता है । जीवात्मा के, अपहत पाप्मता आदि स्वाभाविक गुण परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, उत्पन्न नहीं होते । जैसा कि भगवान शौनक ने भी कहा है--"जैसे कि ज्योत्स्ना, मणि का मल प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश से मणि को प्रकाशित करती है, वैसे ही ज्ञान, आत्मा का प्रक्षालन नहीं करता अपितु उसे प्रकाशित मात्र करता है । जैसे कि--जल स्नान से व्यक्ति, शरीर से स्वच्छ हो जाता है, उसकी आत्म शुद्धि नहीं होती, वैसे ही, हेय गुणों के नष्ट होने से ज्ञान आदि गुणों का प्रकाश हो जाता है, उत्पन्न नहीं होते, वे तो आत्मा के स्वाभाविक नित्य गुण हैं ।" अतः

ankurnagpal108@gmail.com

यही मानना होगा कि जीवात्मा के ज्ञान आनंद आदि गुणों का कम को आसक्ति से संकुचन हो जाता है, परमात्मज्योति को प्राप्त कर, कर्मरूप बंधन का क्षय हो जाने पर, विकास रूप आविर्भाव नहीं होता, अपितु वे गुण प्रकाशित हो जाते हैं। "सपंद्याविर्भावः" यह कथन बिलकुल ठीक है।

२ अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणः—

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४।।

किमयं परंज्योतिरुपसंपन्नः सर्वबंधविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा, स्वात्मानं परमात्मानं पृथग्भूतमनुभवति, उत्तत्प्रकारतया तदविभक्तम् ? इति विशये—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति "इदं ज्ञानमपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः, सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्यपरेण साहित्य-साम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतमनुभवति ।

क्या यह-परमात्म ज्योति संपन्न बंधन विमुक्त जीवात्मा, अपने को परमात्मा से पृथक् अनुभव करता है, अथवा अपने को उसी का प्रकार मानकर अविभक्त समझता है ? इस संशय पर, इस संबंध की श्रुतियाँ सामने आती हैं—"वह ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त करता है" अपने कर्त्ता स्वर्णाभ परम पुरुष परमात्मा को देखकर उपासक, पुण्य पापों को त्याग कर परं निरंजन की समता प्राप्त करता है "मेरे इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर न सृष्टि में जन्मते हैं न प्रलय में नष्ट होते हैं "इत्यादि श्रुति स्मृतियों से, मुक्त जीवात्मा की परमात्मा के साथ, समता और साधर्म्यता ज्ञात होती है जिससे पता लगता है कि वह अपने से पृथक अनुभव करता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अविभागेन—इति । परस्माद् ब्रह्मणः स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्तः । कुतः ? दृष्टत्वात्

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्मोपसंपत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येनस्वात्मनो दृष्टत्वात्। स्वात्मनः स्वरूपं हि–"तत्त्वमसि" अयमात्माब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण्य निर्देशैः "य आत्मनि, तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम् "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यत्र अतो अविभागेन "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवानु भवति। साम्यसाधर्म्य व्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तत्सममिति देवादि प्राकृतरूप प्रहाणेन ब्रह्मसमान शुद्धिं प्रतिपादयति। सहश्रुति स्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद् विरोधः। ब्रह्म प्रकारतया तदविभागोक्ते हि "संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" इत्यादि न विरुध्यते" अधिकन्तु भेदनिर्देशात् "अधिकोपदेशात्" इत्यादि च।

उक्त मत पर "अविभागेन" इत्यादि सूत्र सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि–मुक्तात्मा, अपने को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है। ब्रह्मोपसंपत्ति से अविद्या के तिरोहित होने पर उसे अपने यथार्थ रूप का परिज्ञान होता है तब वह अपने को, उनके समान पाकर अभिन्न ही मानता है। उसकी अभिन्नता "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण निर्देशों से दिखलाई गई है। "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता-जनानाम्" इत्यादि से ब्रह्मात्मक जीवात्मा को, उसका शरीर होने से, उस परमात्मा का प्रकार रूप बतलाया गया है—इसको "अवस्थितेरिति-का शकृत्सनः" सूत्र में निश्चित कर चुके। अतः वह जीवात्मा, अभिन्न रूप से "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अनुभव करता है। जीवात्मा के लिए जो समता और साधर्म्य का निर्देश किया गया है, वह, ब्रह्म के प्रकार भूत जीवात्मा के स्वरूप का, देवादि रूप को छोड़कर, उसके समान शुद्ध होना सिद्ध करता है। जीव ब्रह्म के साहचर्य को बतलाने वाली श्रुति तो ऐसे

ankurnagpal108@gmail.com

शुद्ध जीवात्मा का, प्रकारी ब्रह्म के साथ उसके गुणानुभवों का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह अभिन्नता के विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म का प्रकार जीव अभिन्नता प्रतिपादक श्रुतियों में प्रतिपाद्य है, ऐसा—"संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" अधिकंतुभेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात्" इत्यादि सूत्रों में दिखला चुके हैं।

३. ब्राह्माधिकरणः—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५॥

प्रत्यगात्मनः परंज्योतिरुपसंपद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भाव एवेत्युक्तम्। तत्र येन स्वरूपेणायमाविर्भवति तत्स्वरूपं श्रुति वैविध्याद् विचर्यते। किमपहतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपामिति तेन रूपेणायमाविर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेनरूपेण, अथोभयोरविरोध इत्युयभरूपेणेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः। अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्म संबंधितया श्रुताः। ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते? उपन्यासादिभ्यः उपन्यस्यते हि ब्रह्म गुणाः, अपहतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनो हि प्रजापतिवाक्ये "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना" सत्यसंकल्पः" इत्यंतेन। आदिशब्देन सत्यसंकल्पत्वादिगुणायत्ता जक्षणादयः "जक्षत्क्रीडन् रममाणः" इत्यादि वाक्यावगता व्यवहारा गृह्यन्ते। अतएभ्य उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्र स्वरूपत्वं न संभवतीति जैमिनेर्मतम्।

जीवात्मा का, परंज्योति से संपन्न होकर, तिरोधान के निवृत्त हो जाने पर, स्वरूपाविर्भाव होता है, यह निश्चित हुआ। वह जिस स्वरूप से आविर्भूत होता है, उसका स्वरूप श्रुतियों में कई प्रकार का वर्णित है, अब उस पर विचार करते हैं कि—क्या अपहतपाप्मता आदि ही इसका आविर्भूत स्वरूप है, अथवा विज्ञान मात्र ही है, अथवा दोनों रूप

ankurnagpal108@gmail.com

एक ही हैं इसलिए दोनों ही उसके आविर्भूत स्वरूप हैं ? इस पर जैमिनि आचार्य का मत है कि-ब्रह्म रूप, उसका स्वरूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि ब्राह्म रूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि को दहर वाक्य में ब्रह्म संबंधी बतलाया गया है और इन्हीं का प्रतापति वाक्य में, जीवात्मा के लिए उपन्यास किया गया है, सत्य संकल्पता आदि गुणों से संबद्ध जक्षण आदि भी हैं ऐसा "जक्षन्कीडन् रममाण:" इत्यादि वाक्य से अवगत व्यवहार से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यास से निश्चित होता है कि जीवात्मा का स्वरूप विज्ञान मात्र ही नहीं हो सकता, यह जैमिनि का मत है।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमि: ।४।४।३।।

चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेनरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। कुतः ? तदात्मकत्वात्—तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्यगात्मनः। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "विज्ञानघन एव" इत्यवधारणात् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते। अतोऽस्यगुणान्तराभावात् 'अपहतपाप्मा" इत्यादयः शब्दाः विकार सुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चितितन्मात्ररूपेणाविर्भाव इत्यौडुलोमेर्मतम्।

जीव का स्वरूप चैतन्य मात्र ही है वह उसी रूप से आविर्भूत होता है, ऐसी आचार्य औडुलोमि की मान्यता है। इस जीवात्मा का वैसा स्वरूप ही बतलाया गया है—"जैसे कि नमक का डला भीतर बाहर से संपूर्ण रसघन ही है, वैसे ही यह आत्मा अंतर बाह्य भेद से रहित संपूर्ण प्रज्ञान घन है "विज्ञानघन ही है" इत्यादि से, यह जीवात्मा विज्ञान घन स्वरूप वाला ही ज्ञात होता है। इसमें कोई भी दूसरे गुण नहीं हैं। "अपहत पाप्मा" इत्यादि शब्द तो सुख दुःख आदि अविद्यात्मक विकारों का राहित्य बतलाते हैं। जीवात्मा चैतन्य मात्र स्वरूप से आविर्भूत होता है ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।

ankurnagpal108@gmail.com

संप्रति भगवान बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।४।४।७॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्व प्रतिपादनेन सत्यपि सत्यकामत्वादीनां गुणानामविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात् पूर्वभावात्—औपनिषादात्—"य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्याद्युपन्यासात् प्रमाणात् पूर्वेषां, अपहतकामत्व सत्यकामत्वादीनामपि भावात्—विद्यमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानां इतरेतरबाधो न युज्यत इत्यर्थः ।

आचार्य बादरायण के मत से, मुक्तात्मा के विज्ञान मात्र स्वरूप मानने से, सत्यकामत्व आदि गुणों का कोई विरोध नहीं होता । अपहत पाप्मता आदि गुण उपनिषद् में प्रथम से ही उपन्यस्त हैं, विज्ञान मात्रत्व का भी मुक्त रूप से ही उल्लेख है, दोनों ही तुल्य हैं, बराबर के दो प्रमाणों में बाध नहीं होता ।

न च वस्तुविरोधादपहतपापमत्वादीमविद्यापरिकल्पितत्वं व्याख्यम्, विशेषाभावात्-"विपरीतं कस्मान्न भवति" इति न्यायात् । तुल्यबलत्वे हि अशक्यस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव न्याय्यम् । एवमप्यविरोध इत्यभ्युपगम्य वदन ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं नान्यत्किञ्चिदस्तीत्ययमर्थः "विज्ञानघन एव" इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत इति मन्यते । कस्तर्हि—"विज्ञानघन एव" इत्यवधारणस्यार्थः ? कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृतस्वप्रकाशः नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

विज्ञानमात्र और अपहृतपाप्मता आदि में नितान्त वस्तु विरुद्धता है अत: अपहृत पाप्मता आदि को अविद्या परिकल्पित मान लिया जाय, यह न्याय्य न होगा, क्योंकि दोनों ही स्वरूप समान रूप से बतलाये गए हैं किसी का विशेषोल्लेख नहीं है, अत: इन दोनों में से किसी एक को, किसी भी आधार के बिना अविद्या परिकल्पित नहीं कहा जा सकता। जब समान बल वाले प्रमाण हों उनमें किसी की श्रेष्ठता का अवधारण न हो सके तो, दोनों की विभिन्नरूपता न्याय्य होती है। इसी भाव के आधार पर अविरोध मानकर ज्ञानमात्र ही इसका स्वरूप है, दूसरा कुछ नहीं इस अर्थ का प्रतिपादक "प्रज्ञानधन एव" वाक्य कहा गया, ऐसा मानना चाहिए। "विज्ञानघन एव" इस अवधारणार्थक वाक्य का तात्पर्य है कि यह अखंड आत्मा चैतन्य और स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश किसी अन्य से आयत्त नहीं है: स्वल्प होते हुए भी इसका स्वतंत्र अस्तित्व है यही बात "स यथा सैन्धव..........प्रज्ञानघन एव" इत्यादि में कही गई है।

न चैवं प्रत्यगात्मनो धर्मिस्वरूपस्यकृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽप्यपहतपाप्मत्वसत्यसंकल्त्वादिधर्मसंबंधो वाक्यान्तरावगतो विरुध्यते, यथा सैन्धवघनस्यकृत्स्नस्य रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुराद्यवगता: रूपकाठिन्यादयो न विरुध्यंते। इदमत्रवाक्य तात्पर्यम्–यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्वगादिप्रदेशभेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवघनस्य सर्वत्रैकरसत्वम्, तथाऽत्मनोऽपि सर्वत्र विज्ञान स्वरूपत्वम्, स्वप्रकाशस्वरूपत्वमित्यर्थ:।

धर्मी जीवात्मा के, अखंड विज्ञानधनस्वरूप से अन्यवाक्य में कहे गए अपहृत पाप्मता आदि धर्मों से विरुद्धता भी नहीं माननी चाहिए, जैसे कि अखंड रस स्वरूप सेंधा नमक की रस रूपता का जिह्वेन्द्रिय से ही परिज्ञान होता है परन्तु नेत्र आदि इन्द्रियों से उसका आकार प्रकार भी जाना जाता है, उसमें कोई विरुद्धता नहीं होती। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जैसे आम के फल में छिलका आदि के भेद से भले ही भेद हो जाय पर, सैन्धव में तो सर्वत्र एकरसता है, वैसे ही जीवात्मा सर्वत्र विज्ञान स्वरूप अर्थात् स्व-प्रकाश स्वरूप ही है।

ankurnagpal108@gmail.com

४. संकल्पाधिकरणः—

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।४।४ ८॥

मुक्तः परं ब्रह्मोपसंपद्य ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्व पर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम्, तमधिकृत्य सत्यसंकल्पत्व प्रयुक्ता व्यवहाराः श्रूयन्ते —"स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इति । किमस्य ज्ञात्यादि प्राप्तिः प्रयत्नान्तर सापेक्षा, उत परमपुरुषस्येव संकल्पमात्रादेव भवति ? इति विशये लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेनव्यवह्रियमाणानां कार्यं निष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा ।

ज्ञान स्वरूप मुक्त जीवात्मा में, परब्रह्म के तेज से संपन्न होकर, निष्पापता सत्य संकलपता आदि गुणों का आविर्भाव होता है. यह बतला दिया गया । उसी से संबद्ध "सतत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्" इत्यादि में सत्य संकलपता आदि के व्यवहार का भी वर्णन मिलता है इस पर संशय होता है कि—यह व्यवहार प्रयत्नान्तर सापेक्ष है, अथवा परमात्मा के संकल्प से ही होता है ? इस पर विचारने पर मत होता है, कि जैसे लोक में, राजा आदि के सत्य संकलपता आदि व्यावहारिक कार्य प्रयत्नान्तर सापेक्ष होते हैं, वैसे ही मुक्त जीव के ये व्यवहार भी हैं ।

सिद्धांतः—इति प्राप्त उच्यते—संकल्पादेव—इति । कुतः ? तच्छ्रुतेः "स यदि पितृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठति" इति हि संकल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं श्रूयते । न च प्रयत्नान्तर सापेक्षत्वाभिधायिश्रुत्यन्तरं दृश्यते, येनास्य "संकल्पादेव" इत्यवधारणस्य "विज्ञानघन एव" इतिवद्व्यवस्थापनं क्रियते ।

उक्त मत पर सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि संकल्प से ही वे सब व्यवहार होते हैं, उसका श्रुति प्रमाण भी है "वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित हो जाते हैं" इत्यादि में संकल्प मात्र से पितर आदि की उपस्थिति दिखलाई गई है ।

ankurnagpal108@gmail.com

प्रयत्नान्तर सापेक्षता का किसी श्रुति में उदाहरण नहीं मिलता, जिससे कि "संकल्पादेव" इस अवधारण वाक्य की "विज्ञानघन एव" की तरह व्यवस्था करनी पड़े।

अतएव चानन्याधिपतिः ।४।४।६॥

यतो मुक्तः सत्यसंकल्पः अतएवानन्याधिपतिश्च । अन्याधिपतित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वं, विधिनिषेधयोग्यत्वं हि प्रतिहत संकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसंकल्पत्वश्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अतएव "स स्वराड् भवति" इत्युच्यते ।

मुक्तात्मा सत्य संकल्प होने से ही अनन्याधिपति भी है । अन्याधिपतित्व का अर्थ होता है विधि निषेध योग्यता, विधि निषेध की योग्यता में सत्य संकल्पता समाप्त हो जाती है [अर्थात् विधि निषेध के बंधन को मानना ही पराधीनता है, जिस अवस्था में यह बंधन समाप्त हो जाता है वही अनन्याधिपतित्व अर्थात् स्वतंत्रता या मुक्ति की अवस्था होती है] इसलिए सत्य संकलपता को बतलाने वाली श्रुति से ही, मुक्तात्मा का अनन्याधिपतित्व भी निश्चित होता है। इसीलिए उसके लिए कहा भी गया है कि "वह स्वतंत्र होता है" इत्यादि ।

५ अभावाधिकरणः—

अभावं बादरिराह हि एवम् ।४।४।१०॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न संति, उत सन्ति ? अथवा यथा संकल्पं संति न संति च ? इति विशये, शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरि-राचार्यो मन्यते, कुतः ? आह ह्येवं—"न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति शरीरसंबंधे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह श्रुतिः ।

ankurnagpal108@gmail.com

मुक्त जीव के शरीर इन्द्रियादि होते हैं या नहीं अथवा संकल्प से होते भी हैं नहीं भी होते ? इत्यादि संशय होता है। आचार्य बादरि के अनुसार तो शरीर इन्द्रियादि नहीं होते उस पर वे श्रुति प्रस्तुत करते हैं--"सशरीर व्यक्ति के पाप पुण्यों का नाश नहीं होता, अशरीरी को पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते" इत्यादि में शरीर संबंध में दुःख की अनिवार्यता बतलाकर "इस शरीर से उठकर" इत्यादि में मुक्त जीव का अशरीरत्व दिखलाया गया है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते कुतः? विकल्पामननात्—विविधः कल्पो विकल्पः, वैविध्यमित्यर्थः—"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा" इत्यादि श्रुतेः । आत्मन एकस्यानेकधाभावासंभवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबंधन इत्यवगम्यते। अशरीरत्व वचनं तु कर्मनिमित्त शरीराभाव परम्, तदेव हि शरीरंप्रियाप्रिय हेतुः ।

जैमिनि आचार्य, मुक्त जीव के शरीर इन्द्रिय आदि मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में श्रुति प्रस्तुत करते हैं "वह एक होता है, तीन होता है, पांच, सात होता है" इत्यादि। वे कहते हैं कि इस श्रुति से, जीव के अनेक होने की बात कही गई है जिससे शरीर का अस्तित्व ज्ञात होता है। जो अशरीरत्व की बात है वह तो कर्मनिमित्तक शरीर के लिए है, वही शरीर पाप पुण्य का कारण होता है।

भगवांस्तु वादरायणः स्वमतेन सिद्धान्त माह—

भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं--

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

"संकल्पादेव" इत्येतदतःशब्देन परामृश्यते, अतएव संकल्पात्, उभयविधंसशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान बादरायणो मन्यते, एवं चोभयी श्रुतिरुपपद्यते—द्वादशाहवद्—यथा—"द्वादशाहमृ-

ankurnagpal108@gmail.com

द्धिकामा उपेयुः" द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैति यजति चोदनाभ्यां संकल्पभेदेन सत्रमहीनं च भवति ।

सूत्रस्थ अतः शब्द "संकल्पादेव" अर्थ का द्योतन करता है भगवान बादरायण का मत है कि मुक्तात्मा संकल्प से ही सशरीर और अशरीर होता है, दोनों को प्रमाणित करने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे कि— "द्वादशाह अनुष्ठान समृद्धि कामना से कर्त्तव्य है" सन्तान कामना से द्वादशाह यजन करना चाहिए" इत्यादि में एक ही नियम से, द्विविध प्रकारों का विधान संकल्प भेद से बतलाया गया है, वैसे ही सशरीर अशरीर दोनों संकल्प से ही संभव है।

यदा शरीराद्युपकरणवत्वं, तदातानि शरीराद्युपकरणानि स्वेनैव सृष्टानीति नास्ति नियम, इत्याह—

जब मुक्तात्मा शरीरादि उप करणों से संपन्न होता है, तब उसके वे शरीरादि उपकरण, स्वतः ही सृष्ट होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, यही बतलाते हैं।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३।।

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणै-र्भोगोपपत्तेः सत्यसंकल्पोऽपि स्वयं न सृजति । यथा स्वप्ने— "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यारभ्य "अथ वेशं तान् पुष्करिण्यः सुवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति "य एषु सुप्तेषुजागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन्" इति ईश्वरसृष्टैः रथाद्युपकरणैः जीवो भुंक्ते, तथा मुक्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भुंक्ते ।

स्वयं अपने ही सृष्ट शरीर आदि उपकरणों के अभाव में, परमात्मा द्वारा सृष्ट उपकरणों के भोगों की सृष्टि करना सत्य संकल्प होते हुए भी, इस मुक्तात्मा में संभव नहीं है। जैसे कि स्वप्नावस्था में

ankurnagpal108@gmail.com

"रथ रथ के योग्य मार्ग, बागबावड़ी झरने आदि का वही कर्त्ता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि ईश्वर सृष्ट रथ आदि का जीव भोग करता है, वैसे ही मुक्तात्मा भी लीला प्रवृत्त ईश्वर द्वारा सृष्ट पितृलोक आदि लीला रस को भोगता है।

भावे जाग्रत्वत् ।४।४।१४॥

स्वसंकल्पादेव सृष्टतनु प्रभृतिपितृलोकाद्युपकरणभावे जाग्रत पुरुष भोगवन्मुक्तोऽपि लीलारसं भुंक्ते, परंपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादि पितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्म-लीलारसं यथाभुंक्ते तथा मुक्तानामपि स्वलीलायै पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचित्, कदाचिच्च मुक्ताः सत्यसंकल्पत्वात् परं पुरुष लीलान्तर्गतस्वपितृलोकादि स्वयमेवसृजन्तीति सर्वमुपपन्नम्।

मुक्तात्मा, अपने संकल्प से ही सृष्ट शरीर से पितृलोक आदि उप-करणों का जाग्रत पुरुषों की तरह लीला रस का भोग करता है, जैसे कि परंपुरुष लीला के लिए दशरथ वसुदेव आदि पितरों की स्वयं सृष्टि करके मनुष्यों की तरह लीला रस का भोग करते हैं, वैसे ही मुक्तात्मा भी अपनी लीला करने के लिए पितर आदि की सृष्टि करता है और कभी सत्य संकल्प होने के कारण वह मुक्तात्मा परमात्मा की लीला में अपने पितर आदि को स्वयं ही सृजन करते हैं।

नन्वात्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम् कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणो-रात्माभिमानसंभव इत्यत्राह—

आत्मा को अणु परिमाण का बतलाया गया है' संशय होता है कि—वह एक अणु अनेक शरीरों में कैसे व्यापक हो सकता है? इस पर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वर्त्तमानस्य स्वप्रभया देशांतरावेशः तथात्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः, तथा चैकस्मिन्नपि देहेहृदयाद्येकप्रदेश वर्त्तिनोऽपि चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्देह आत्माभिमानः तद्वत् ।

इयान्विशेषः, अ क्तस्य कर्मणा संकुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु आत्माभिमानानुगुणाव्याप्तिः "इदम्" ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना । तथाहि दर्शयति—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो जीवः स विज्ञेयः चानन्त्याय कल्पते" इति । अमुक्तस्यकर्मनियामकम्, मुक्तस्य स्वेच्छेति विशेषः ।

जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ दीपक, अपने प्रकाश से अन्य स्थानों को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक देह स्थित आत्मा अपने चैतन्य प्रकाश से सभी शरीरों में आविष्ट नहीं हो सकता । एक ही शरीर मेंहृदय आदि एक स्थान पर स्थित जीवात्मा, अपनी चैतन्य व्याप्ति से सपूर्ण देह में आत्माभिमान कर सकता है, अन्य देहों में वैसा करना संभव नहीं है ।

कर्म से संकुचित ज्ञान वाले बद्ध जीव की अन्य देशों में जाने पर आत्माभिमान के अनुरूप व्याप्ति होती है इसलिये उसे "इदम्" ऐसा कहना कठिन है--जैसा कि श्रुति कहती भी है--"बाल के सौवें हिस्से के भी सौवें हिस्से की कल्पना की जाये तो उसे जीव कहा जा सकता है, वह जीव अनन्त है ।" बद्ध जीव कर्म से आबद्ध है जबकि मुक्त स्वेच्छाचारी होता है ।

ननु परंब्रह्म प्राप्तस्यान्तरबाह्य ज्ञानलोपं दर्शयति श्रुतिः "प्राज्ञेनात्मा संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन् वेदनान्तरम्" इति, तत्कथं मुक्तस्य सार्वज्ञमुच्यते ? तत्रोत्तरम्—

परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त जीवात्मा को तो बाह्यान्तर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता ऐसा श्रुति का मत है—"परमात्मा से संसक्त आत्मा को न कुछ बाह्य ज्ञान रहता है न आन्तरिक" इत्यादि, फिर मुक्त को सर्वज्ञ कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।४।४।१६॥

नेदं वचनंमुक्तविषयम्, अपितु स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, संपत्तिश्चमरणम्, "वाङ्मनसि संपद्यते" इत्यारभ्य "तेजः परस्यां देवतायाम्" इति वचनात्। तयोश्चावस्थयोः प्राज्ञ प्राप्तिर्निस्संबोधत्वं च विद्येते। अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनं सुषुप्तिमरणयोर्निस्संबोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वं आविष्कृतं हि श्रुत्या "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति सुषुप्तिवेलायां निस्संबोधत्वमुक्त्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोपे" इति सर्वज्ञत्वमुच्यते। तथामरणे च निस्संबोधत्वम्—"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति। अतः "प्राज्ञेनात्मना" इति वचनं स्वाप्ययसंपत्त्यो, रन्यतरापेक्षम्।

"प्राज्ञेनात्मना" इत्यादि वचन मुक्तात्मा विषयक नहीं है अपितु सुषुप्ति या मृत्यु से संबद्ध है। "वाङ्मनसि संपद्यते" से लेकर "तेजः परस्यां देवतायाम्" तक मरण का उल्लेख किया गया है, उन दो अवस्थाओं को प्राप्त जीव में ही अज्ञान रहता है। उन्हीं से संबद्ध यह वचन है। सुषुप्ति और मरण की अज्ञानता तथा मुक्त की सर्वज्ञता श्रुति में दिखलाई गई है। जैसे "इस अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि" यह मैं हूं "और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है, यह मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है, इसमें मुझे इष्ट फल नहीं दीखता" इत्यादि में सुषुप्तावस्था की अज्ञानता दिखलाकर उसी वाक्य में मुक्त के लिए—"वह आत्मा इस दिव्य चक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है जो कि इस ब्रह्म लोकमें है" इत्यादि से सर्वज्ञता दिखलाई गई है। इसी प्रकार मरणावस्था की अज्ञानता "एतेभ्योभूतेभ्यः" इत्यादि में दिखलाई गई है। इसलिए "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादिवचन इन्हीं दो में से किसी एक के विषय में है।

ankurnagpal108@gmail.com

१६ जगद्व्यापारवर्जाधिकरणः—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।४।४।१७।।

किमुक्तैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परंपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तदरहितं केवल परमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः किम् युक्तम् ? जगदीश्वरत्वमपीति, कुतः ? "निरंजनः परमंसाम्युपैति" इति परंपुरुषेण परमसाम्यापत्तिः श्रुतेः, सत्यसंकल्पत्वश्रुतेश्च । नहि परमसाम्य सत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारण जगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अतः सत्यसंकल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमिति ।

मुक्त को क्या जगत की सृष्टि आदि का परमात्मा की तरह सर्वेश्वरत्व का असाधारण सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है अथवा केवल परमात्मा की तरह आनंदानुभव मात्र ही प्राप्त होता है ? इस संशय पर मत होता है कि—जगदीश्वरत्व भी प्राप्त हो जाता है "परम निरंजन की समता प्राप्त करता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उसे परम पुरुष की समता प्राप्त हो जाती है, उसकी सत्य संकलपता बतलाने वाली श्रुति से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वेश्वर के असाधारण जगन्नियमन के विना, परमसाम्य और सत्यसंकल्पत्व धर्म हो नहीं सकते। परम साम्य और सत्य संकल्पत्व के आधार पर समस्त जगन्नियमन रूप ऐश्वर्य भी मुक्तात्मा में विद्यमान है, ऐसा मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद् व्यापारः निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनम् तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभव रूपं मुक्तैश्वर्यम् कुतः ? प्रकरणात् । निखिल जगन्नियमनं हि परंब्रह्म प्रकृत्याम्नायते—"यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म" इति । यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं

जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते, असाधारणस्य हि लक्षणत्वम् ।

तथा—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत"—ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तदेकं सन्न व्यभजत तुच्छ्येयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि इन्द्रोवरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान इति" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन् मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत"-"एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तरस्थस्यैका कन्यादशेन्द्रियाणि' इत्यादिषु । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" इत्यारभ्य-' "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परम पुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते । असन्निहितत्वाच्च—न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्यसंन्निधानमस्ति, येन जगद्व्यापारः तस्यापि स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—जागतिक व्यापार से रहित मुक्त का, ऐश्वर्य होता है । समस्त जड चेतन की सृष्टि स्थिति और नियमन आदि को जगद् व्यापार कहते हैं, उससे रहित केवल ब्रह्मानु स्वरूप ही, मुक्तात्मा का ऐश्वर्य होता है । समस्त जगत के नियमन की प्रकृति, केवल परब्रह्म की ही बतलाई गई है—"जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे स्थित और जिसमें विलीन हैं, उसे ही जानो वही ब्रह्म है" इत्यादि । यदि यह जगत् का नियमन कार्य, मुक्तात्माओं से भी साधारण रूप से साध्य हो जाय तो, यह जगदीश्वरत्व रूप से ब्रह्म के लिए नहीं कहा जा सकता, यह तो परमात्मा का असाधारण लक्षण है ।

तथा सदेव सोम्येदमग्र ब्रह्म वा इदमेवाग्र" आत्मा वा इदमेक एवाग्र "एकोहवैनारायण आसीत्" इत्यादि एवं "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि में, निखिल जगन्नियमन रूप प्रकृति परमपुरुष

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

की ही बतलाई गई है ! ये सारा निखिल जगन्नियमन का प्रसंग मुक्तात्मा
के लिए कहा गया है, जिसके आधार पर जागतिक व्यापार उसका भी
माना जा सके ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्थोक्तेः ।४।४।१८॥

"स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इति प्रत्यक्षेण श्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते, अतो न जगद्व्यापार वर्जमिति चेत् तन्न, आधिकारिकमंडलस्थोक्तेः; आधिकारिकाः, अधिकारेषु नियुक्ता हिरण्यगर्भादयः, मंडलानि तेषां लोकाः, तत्स्थाः भोगाः मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवतीत्ययमर्थः "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिनोच्यते । अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूति भूताननुभूय यथाकामं तृप्यतीत्यर्थः । तदेवं विकारान्तरवर्तिनः, आधिकारिकमंडलस्थान् सर्वान्भोगान् ब्रह्मविभूति भूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्व्यापारः ।

यदि कहो कि—"वह स्वतंत्र हो जाता है उसकी सभी लोकों में
स्वच्छंद गति हो जाती है" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से मुक्तात्मा का जगद्-
व्यापार दिखलाया गया है, इसलिए उसके ऐश्वर्य को जगद् व्यापार
रहित नहीं कह सकते । यह कथन भी ठीक नहीं है, यह तो आधिकारिक
अर्थात् हिरणगर्भ आदिमंडलों के लोकों के जाने की बात है । जहां कर्म-
वश्यता नहीं होती "तस्यकामचारो भवति" में यही बतलाया गया है ।
अर्थात् निष्काम भाव का त्याग कर, मुक्तात्मा, ब्रह्म के विभूति स्वरूप
विकृत लोकों का यथेच्छ उपभोग कर तृप्त हो जाता है । उन्हीं विकारा-
न्तरवर्ती आधिकारिक मंडलों के समस्त भोगों का जो कि ब्रह्म के विभूति
स्वरूप हैं, अनुभव करता है, यही उक्त वाक्य का कथन है, जगद् व्यापार
की चर्चा नहीं है ।

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तरवर्त्तिनो भोगान् भुंक्ते, तर्हि बद्धस्येव मुक्तस्यापि अन्तवदेव भोग्यजातं अल्पं च स्यात् तत्राह—

यदि संसारी लोगों की तरह, मुक्त भी, विकारान्तरवर्त्ती भोगों का भोग करता है तो यही मानना चाहिए कि—मुक्तात्मा की सारी भोग्य वस्तुएं, बद्ध की तरह अन्तवान् और अल्प हैं। इसका उत्तर—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ।४।४।१९॥

विकारे—जन्मादिके न वर्तत इति विकारावर्त्ति, निर्धूतनिखिलविकारं, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानंदंपरंब्रह्म, सविभूतिकं, सकलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः। तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्त्तिनां लोकानामपि भुक्तभोग्यत्वम्। तथाहि परस्मिन्ब्रह्मणि निर्विकारेऽनवाधिकातिशयानंदे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—"यदा हि एवैष एतस्मिन्, दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" "रसो वैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति" इत्यादिका। तद्विभूतिभूतं च जगत्तत्रैव वर्त्तते "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वेतदुनात्येति कश्चन्" इति श्रुतेः। अतः सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन् विकारान्तरवर्त्तिनः, आधिकारिमकमंडलस्थानपि भोगान्भुंक्त इति, "सर्वेषु लोकेषु कामचारः" इत्यादिनोच्यते, न मुक्तस्य जगद्व्यापारः।

जन्मादि विकार उसमें नहीं होते। सारे ही विकारों से रहित समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकतान, अत्यानंदमय परब्रह्म के विभूति सहित सभी कल्याणमय गुणों का, मुक्तात्मा अनुभव करता है उनकी विभूति के अन्तर्गत होने से उन विकारवर्त्ती लोकों के भोगों का भी भोग करता है। निर्विकार अत्यानंदमय परब्रह्म में मुक्तात्मा की अनुभविता के रूप से स्थिति श्रुति में दिखलाई गई है—"जब यह, इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय में प्रतिष्ठित होता है, तब वह अभय हो जाता है" वह रस स्वरूप है उस रस को प्राप्त कर आनंदी होता है इत्यादि। उसका विभूति स्वरूप जगत वहीं रहता है "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे" इत्यादि में दिखलाया गया है। अतः यही मानना चाहिए कि—सार्वभूतिक ब्रह्मानुभव के लिए विकारान्तरवर्त्ती आधिका-

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

रिक मंडलों के भोगों को भोगता है यही "सर्वेषु लोकेषु कामचारो—" इत्यादि का तात्पर्य है, मुक्तात्मा के जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है।

दर्शयतिश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०॥

अस्य प्रत्यागात्मनोमुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियंतृभूतपरमपुरुषासाधारणंजगद्व्यापारूपंनियमनं न संभवतीत्युक्तम्, निखिलजगन्नियमनरूपोव्यापार: परमपुरुषासाधारण इति दर्शयतः श्रुतिस्मृती—"भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्चमृत्युर्धावति पंचम:" इति "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादि तथा "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एष लोकानामसंभेदाय" इति च श्रुतिः। स्मृतिरपि "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धिविपरिवर्त्तते" इति "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति च। तथा मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वादिपूर्वकस्याप्यानन्दस्य परमपुरुष एव हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः "एष ह्येवानंदयाति" मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, स गुणान समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च, शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च" इति।

नियम्य इस मुक्त जीवात्मा में, नियंता परमपुरुष की असाधारण जगद्व्यापार रूप नियमन आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। निखिलजगन्नियमन रूप असाधारण विशेषतायें परमपुरुष परमात्मा की ही बतलाई गई है—"इनके भय से ही वायु चलता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि, इन्द्र और पांचवां यम दौड़ता है"—हे गार्गि इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चंद्र टिके हुए हैं"—यही सर्वेश्वर हैं "यही भूताधिपति भूतपाल हैं और यही, प्राणियों की मर्यादा को रखने वाले सेतु हैं—" इत्यादि श्रुति तथा "मेरी ही अध्यक्षता में यह प्रकृति चर अचर का

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

प्रसव करती है, मैं इसी के हेतु से जगत का विस्तार करता हूँ-" मैं अकेला विस्तृतरूप से जगत में स्थित हूँ" इत्यादि स्मृति इसकी प्रमाण हैं। इस मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और आनंद के हेतु भी परमात्मा ही हैं, ऐसा श्रुति स्मृति का मत है।" यही आनंदित करता है-"मुझे जो अव्यभिचारि भाव से भजते हैं, वे सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म के समान हो जाते है, अव्यय अमृत मैं ब्रह्म ही शाश्वत धर्म और सुख का एकमात्र आश्रय हूँ" इत्यादि।

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादिः सत्यसंकल्प पर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवाविर्भूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम्, तस्य नित्यस्थितिश्च तदायत्ता, परमपुरुषस्यैतन्नित्यतायाः नित्येष्टत्वान्नित्यतया वर्तत इति न कश्चिद् विरोधः। एवमेव परमपुरुष भोगोपकरणस्य लीलोपकरणस्य च नित्यतया शास्त्रावगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथावस्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते। अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुष साम्यं च जगद्व्यापारवर्जम्।

यद्यपि निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पता आदि गुण जीवात्मा के स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होते हैं, पर वे उन गुणों वाले परमात्मा से ही आयत्त होते हैं, उन गुणों की नित्य स्थिति भी परमात्मा के ही अधीन होती है। परमपुरुष में इनकी नित्यता, नित्य इष्ट होने से नित्यरूप से स्थित रहती है। इसीप्रकार परमपुरुष के भोगोपकरण लीलोपकरणों की नित्यता भी शास्त्रों से ज्ञात होती है तथा परमपुरुष के लिए वह नित्य इष्ट होने से सदा उनमें स्थित रहते हैं ऐसा भी शास्त्र से ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि-मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और परमपुरुष की समता, जगद्व्यापार से रहित है।

भोगमात्र साम्यलिंगाच्च ।४।४।२१॥

ब्रह्म याथात्म्यानुभवरूप भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च लिंगाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते "सोऽश्नुते सर्वान्

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुष साम्यं सत्यसंकल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमन श्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ।

मुक्तात्मा के ब्रह्म के यथार्थ अनुभवरूप भोगमात्र तथा ब्रह्मसाम्य के प्रतिपादन से, जगद् व्यापार वर्जन ज्ञात होता है-"वह समस्त कामनाओं को ब्रह्म के साथ भोगता है" इत्यादि । मुक्तात्मा की परमपुरुष समता, सत्यसंकल्पता और परमपुरुष के असाधारण जगन्नियमन आदि, शास्त्र के अनुसार ही मानना चाहिये । मुक्तात्मा का ऐश्वर्य जगद् व्यापार से रहित है ।

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतंत्रत्वेन सत्यसंकल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्ति संभवाशंकेत्याह—

यदि मुक्त का ऐश्वर्य परमपुरुष के अधीन है तो, सत्य संकल्प होने से मुक्त की पुनरावृत्ति तो संभव है ? उत्तर—

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ।४।४।२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादि कारणं समस्तवस्तुविलक्षणः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः, आश्रितवात्सल्यैकजलधिः, परमकारुणिको निरस्तसमाभ्यधिकसंभावनः परब्रह्माभिधानः परमपुरुषोऽस्तीति, शब्दादवगम्यते । एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीततदुपासनरूपतत्समाराधनप्रीतः उपासीनाननादिकालप्रवृत्तानंतदुस्तरकर्मसंचयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दंप्रापय्य पुनरावर्तयतीत्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च-"स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते" इत्यादिकः तथा च भगवता स्वयमेवोक्तम्-"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्, नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिपरमांगताः । आब्रह्म

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

भुंवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"। इति

जैसा कि—समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकमूर्ति जगत् जन्मादि के कारण, समस्त वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प शरणागतवत्सल, परमदयालु, न्यूनाधिकता रहित सदा एकरस, परब्रह्म परमपुरुष का अस्तित्व शास्त्र से ज्ञात होता है वैसे ही अहर्निश वर्णाश्रम धर्मानुसार अनुष्ठीयमान, उपासना रूप समाधान से प्रसन्न वे परमात्मा जीवात्मा के अनादिकाल संचित दुस्तर कर्मरूप अविद्या का निवारण करके उसे अपने यथार्थ आत्म्यानुभव रूप अत्यानंदमयता को प्राप्ति कराते हैं और पुनः संसार में नहीं जाने देते, यह भी शास्त्र से ही ज्ञात होता है। जैसे कि--"आजीवन वह इस प्रकार आचरण करते हुए ब्रह्म-लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता लौटकर नहीं आता" इत्यादि। भगवान ने स्वयं भी कहा है--"मुझे प्राप्त करके उपासक, इस दुःखालय अशाश्वत संसार को नहीं प्राप्त करता, परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन ! ब्रह्म सहित ये सारे लोक पुनः नष्ट हो जाते हैं पर मुझे प्राप्त करने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता" इत्यादि।

न चोच्छिन्नकर्मबंधस्यासंकुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभवैकस्वभावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्माऽनुभवतोऽन्यापेक्षा-तदर्थारम्भाद्यसंभवात् पुनरावृत्ति शंका।

न च परमपुरुषः सत्यसकल्पोऽत्यर्थं प्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्त्तयिष्यति, य एवमाह—"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च ममप्रियः, उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्, बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति। सूत्राभ्यासः शास्त्र परिसमाप्तिं द्योतयति। इति सर्वं समंजसम्।

कर्मबन्धनों से मुक्त, विकसित ज्ञान, परब्रह्मानुभव स्वभाव, एकमात्र परमात्मा से ही प्रेम करने वाले, अत्यधिक आनंद में मग्न, एक-

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

मात्र ब्रह्मानुभव में ही रत, जीव की पुनरावृत्ति की शंका की भी नहीं जा सकती।

और न अत्यंत प्रिय सत्य संकल्प परमपुरुष को प्राप्त कर कभी लौट ही सकता है, जैसा कि कहा गया है—"मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है, और मैं उसे प्रिय हूँ, वैसे सारे ही उपासक उदार हैं, पर ज्ञानी उपासक तो मेरी आत्मा ही है। वह सही मार्ग में स्थित महात्मा मेरी ही गति को प्राप्त करता है, अनेकों जन्मों में ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त करते हैं, जो कि सब कुछ वासुदेव है ऐसा मानते हैं, ऐसे महात्मा बड़े सुदुर्लभ हैं।" इत्यादि। सूत्र में जो दो बार शब्द का अभ्यास किया गया है वह परिसमाप्ति का द्योतक है। सारे समाधान हो गए अस्तु।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

ग्रन्थ पूर्ण

સ્વામીતિ મહાતેજા: પરબ્રહ્મ સનાતન: |
જ્ઞાયતે જ્ઞાનીનાં નાથો વેદવેદ્યો મહામતિ: ||
Ankur Nagpal

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com